समीक्षात्मक अध्ययन

कोणार्क

रीगल बुक डिपो, दिल्ली-६

13 VINOD
BOOK DEPOT
FOR
OLD AND NEW
Medical Tawi Medical University College
Central School Central II Competation Book
Pacca Dangal JAMMU (Tawi) 180008

भूमिका

☐ स्वातन्त्र्योत्तर युग के नाटककारों में श्री जगदीशचन्द्र माथुर अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपके नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ अभिनेयता का गुण भी समाविष्ट मिलता है। आपकी नाट्य-कृतियों में 'कुंवरसिंह की टेक', 'शारदीय', 'बंदी', 'कोणार्क' तथा 'पहला राजा' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें जहाँ एक ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आंकने की, तद्-युगीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिवेश को रूपायित करने की ललक दिखाई देती है, वहाँ दूसरी ओर वैयक्तिक अनुभूतियों को गहन स्तरों पर उद्घाटित करने की आकांक्षा भी परिलक्षित होती है।

☐ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधृत 'कोणार्क' श्री जगदीशचन्द्र माथुर की एक ऐसी नाट्य-रचना है जिसमें नरसिंहदेव-युगीन कला एवं संस्कृति के स्वर्णिम युग को कलाकार के गहन अन्तर्द्वन्द्व की छाया में प्रस्तुत किया है। इस नाटक में जहाँ ऐतिहासिक और विश्वप्रसिद्ध सूर्यमन्दिर के ध्वंस की कहानी कही है, वहाँ नाटककार के ही शब्दों में कलाकार के युग-युगीन अन्तर्द्वन्द्व को मुखर किया गया है। 'कोणार्क' नाटक शिल्प-रूप की नवीनता तथा कलात्मक उत्कृष्टता दोनों ही दृष्टियों से सर्वांग सुन्दर नाट्य रचना है।

☐ प्रस्तुत पुस्तक 'कोणार्क : समीक्षा' में कोणार्क नाटक की आलोचना-विवेचना की गई है। नाटकीय तत्वों के प्रत्येक पक्ष के परिप्रेक्ष्य में नाटक का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। सभी आवश्यक विषयों को समाविष्ट करने की भरसक चेष्टा की गई है।

☐ प्रस्तुत रचना में जिन लेखकों की कृतियों से प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में सहायता ली गई है, लेखक उनके प्रति अपना आभार अभिव्यक्त करता है।

☐ 'कोणार्क : समीक्षा' पुस्तक यदि छात्र-समुदाय के लिए लाभदायक और जिज्ञासु पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

इसी विश्वास के साथ—

विनीत

—कृष्णदेव शर्मा

विषयानुक्रम

१.	कोणार्क : कथासार	१
२.	कोणार्क : ऐतिहासिकता	५
३.	कोणार्क : कथा-शिल्प	८
४.	कोणार्क : चरित्र-चित्रण	१५
५.	विशु : सहनशील कलाकार	२७
६.	धर्मपद : विद्रोही कलाकार	३३
७.	नरसिंहदेव : कला-मर्मज्ञ	३८
८.	चालुक्य : विश्वासघाती व्यक्ति	४३
९.	कोणार्क : संवाद-सौष्ठव	४६
१०.	कोणार्क : देशकाल एवं वातावरण	५४
११.	कोणार्क : भाषा-शैली	६०
१२.	कोणार्क : उद्देश्य	६७
१३.	कोणार्क : अभिनेयता	७२
१४.	कोणार्क : महत्त्वपूर्ण स्थलों की व्याख्याएं	७८

१. कोणार्क : कथासार

'कोणार्क' नाटक की कथावस्तु का सम्बंध उत्कल प्रदेश की एक ऐतिहासिक दुर्घटना से सम्बंधित है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल, भव्य एवं कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला के साक्षी रूप खड़े हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ मन्दिर, सूर्य देवता का देवालय, कोणार्क में स्थित है। आज यह मन्दिर भग्नावस्था में पड़ा है। जिस समय इस मन्दिर का निर्माण हुआ था, उस समय उत्कल में गंगवंशीय महाप्रतापी राजा नरसिंह देव वहाँ के शासक थे। उनका राज्यकाल सन् १२३८ से १२६४ तक माना जाता है और ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर नाटक में वर्णित सूर्य मन्दिर का निर्माण उन्होंने ही कराया था। नरसिंह देव महाप्रतापी होने के साथ ही कला के भी पुजारी थे। इसीलिए उन्होंने अपने प्रधान शिल्पी विशु को कोणार्क का अपूर्व मन्दिर बनाने का आदेश दिया। कोणार्क का यह अभूतपूर्व मन्दिर महाशिल्पी विशु और उसके बारह-सौ सहयोगी शिल्पियों के कलापूर्ण एवं अनवरत परिश्रम से धीरे-धीरे अपनी सम्पूर्ण प्रांजलता के साथ आकार ग्रहण करने लगा। हजारों मजदूर और सैकड़ों शिल्पियों के द्वारा कोणार्क का मन्दिर अभी पूरा नहीं बना था कि महाराज नरसिंहदेव को यवनों को पराजित करने के उद्देश्य से बंग प्रदेश तक जाना पड़ा। एक ओर महाशिल्पी विशु अपने सहयोगियों के साथ मन्दिर की मूर्तियों के भव्य निर्माण कार्य में तत्पर था और दूसरी ओर महाराज जब युद्ध क्षेत्र की ओर गए तो अपने परम विश्वासपात्र महामात्य चालुक्य को उत्कल का गुरुतर शासन-भार सौंप गए।

कोणार्क के मन्दिर का निर्माण पिछले बारह वर्षों से अब तक चल रहा था और कब पूर्ण हो पाएगा—इस विषय में स्वयं प्रधान शिल्पी विशु भी निश्चित नहीं था। अपनी अप्रतिम शिल्प-कला और सहयोगी शिल्पियों एवं कोर्तकों के सहयोग से विशु ने भगवान् सूर्यदेव के विशालकाय प्रस्तर रथ का निर्माण पूर्ण कर दिया था। मन्दिर की दीवारों पर अनेक मूर्तियाँ उकेरी जा चुकी थीं जो इतनी सजीव थीं कि अपनी ही मूर्ति को देखकर नाट्याचार्य सौम्य श्रीदत्त चौंक पड़ते हैं। विशु के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि चारों ओर से चुम्बकों के आकर्षण से निराधार स्थित मूर्ति को बाँधे रखने अथवा स्थिर रखने के लिए जो त्रिपटधर स्थापित करना था वह स्थापित नहीं हो पा रहा था। चाहे जैसे ना ोख करके शिल्पी विमान के ऊपर शिलाएँ रखते, वे सब नीचे आ पड़ती थीं। शिल्पीगण निराश हो चले थे और महाशिल्पी विशु अपने स्वप्न को अधूरा

देख व्याकुल थे। चारों ओर अंधकार था और सभी लोग उदास थे। विशु तो इस चिन्ता के मारे विक्षित-सा हो उठा था, क्योंकि मन्दिर की महती कल्पना उसकी बुद्धि के परे हो चली थी। इसी उधेड़बुन में पड़े विशु के समक्ष जब नाट्याचार्य सौम्य श्रीदत्त आए तो विशु ने अपनी असहायता का वर्णन उनके सामने किया। उसी समय एक कोर्तक राजीव ने विशु को बतलाया कि एक युवा शिल्पी धर्मपद, जिसकी आयु लगभग सोलह वर्ष है, उससे मिलना चाहता है। वह यह भी बता देता है कि धर्मपद विद्रोही कलाकर है। विशु यह सुन कर तुरन्त धर्मपद को मिलने बुलवाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में शिल्पी को विद्रोह की वाणी नहीं, कला चाहिए। राजीव के द्वारा ही जब विशु यह सुनता है कि महामात्य चालुक्य जब से महादण्ड पाशिक बने हैं तब से उन्होंने शिल्पियों एवं सामान्य जनता पर अत्याचार बढ़ा दिया है। किन्तु विशु इन सब प्रश्नों को राजनीतिक बतलाते हुए शिल्पी को इनसे दूर रहने की बात कहता है।

राजीव धर्मपद को लेकर जब विशु के निकट लाता है तो पहले धर्मपद यह स्पष्ट करता है कि शिल्पी को केवल शृंगारिक मूर्तियों का ही निर्माण नहीं करना चाहिए वरन् व्यक्ति, समाज एवं देश के यथार्थ चित्र को भी अपनी कला का माध्यम बनाना चाहिए। सच्चा शिल्पी वही है जो जीवन-जगत के यथार्थ चित्र को अपनी कला से मूर्तिमान कर दे। इसी वाद-विवाद के मध्य वह यह दावा करता है कि त्रिपटधर को वह कुछ ही समय के प्रयास से स्थापित कर देगा और इस महती कार्य करने पर उसे क्या पुरस्कार मिलेगा ? विशु कहता है कि जो उसकी इच्छा हो वह मांग सकता है। इस पर धर्मपद कहता है कि जिस दिन मूर्ति का प्रस्थापन समारोह होगा उस दिन के लिए वह महा-शिल्पी के अधिकार चाहता है। इसी बीच चालुक्य विशु को यह धमकी दे जाता है कि यदि सात दिन के अन्दर त्रिपटधर स्थापित नहीं हुआ तो समस्त शिल्पियों के हाथ काट दिए जाएँगे। शिल्पी इस घोषणा से कांप उठते हैं किन्तु धर्मपद अपने कला-कौशल से त्रिपटधर स्थापित करने में सफल हो जाता है। इससे पूर्व ही विशु अपने अधिकार उसे सौंप देने का वचन दे चुका होता है। यहीं पर नाटक का प्रथम अंक समाप्त हो जाता है।

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में ही यह सूचना मिलती है कि महाराज अपने प्रिय मन्दिर को देखने लौट आए हैं। यवनों को पराजित करने के उपरान्त सेना को पीछे से आते रहने को कहकर वे अकेले अपने रहस्याधिकारी के साथ राज-नगरी में लौट आते हैं और महामात्य चालुक्य को साथ लेकर मन्दिर का निरी-क्षण करने कोणार्क की ओर चल पड़ते हैं। मार्ग में चालुक्य रथ की धुरी टूट जाने का बहाना बनाकर रुक जाता है किन्तु कलाप्रेमी महाराज सूर्यदेव के मन्दिर के कलात्मक सौंदर्य को देखने के लिए इतने आतुर थे कि चालुक्य को उसके साथियों सहित मार्ग में छोड़कर रहस्याधिकारी महेन्द्रवर्मन के साथ

कोणार्क के मन्दिर में पहुँच जाते हैं। मन्दिर में पहुँचते ही हजारों कण्ठों से उनकी जयजयकार होती है और वे मन्दिर की अप्रतिम छवि को देखकर मंत्रमुग्ध हो उठते हैं तथा महाशिल्पी विशु को रत्नहार भेंट करते हैं। महाराज ज्योंही महेन्द्र के हाथ से हार लेकर विशु को देने के लिए उद्यत होते हैं कि विशु उन्हें यह कहकर रोक देता है कि इस पुरस्कार का उत्तराधिकारी वह न होकर धर्मपद है। महाराज यह सुनकर चौंक पड़ते हैं किन्तु जब सारी वास्तविकता का ज्ञान उन्हें होता है तो वे वह हार धर्मपद को प्रदान कर देते हैं।

धर्मपद बातों ही बातों में महामात्य चालुक्य द्वारा किए जा रहे शिल्पियों एवं निर्धनों पर अत्याचारों का क्रमशः वर्णन कर देता है। बीच में विशु उसे रोकने का प्रयास भी करता है किन्तु जब महाराज धर्मपद से सारी बातें कह सुनाने की आज्ञा दे देते हैं तो धर्मपद सारी दशा का वर्णन निर्भीकता के साथ कर देता है और जब महाराज कहते हैं कि चालुक्य उनका विश्वासपात्र महामात्य है और धर्मपद को उस पर ऐसे लांछन नहीं लगाने चाहिएं तो भी धर्मपद निर्भीकतापूर्वक चालुक्य को अत्याचारी घोषित करता है। इन समस्त घटनाओं को सुनकर महाराज बहुत दुःखी होते हैं और आश्वासन देते हैं कि वे महामात्य को समझा देंगे। उसी समय महाराज महेन्द्र को आज्ञा देते हैं कि वह बाहर जाकर पता लगाए कि चालुक्य अभी कितनी दूर है। महेन्द्र जब लौटता है तो वह बताता है कि चालुक्य ने अपनी दण्डपाशिक सेना द्वारा तीन ओर से मन्दिर को घेरने की योजना बनाई है और उसके आदमी सशस्त्र होकर तीनों ओर से घेरते आ रहे हैं। मन्दिर के चौथी ओर समुद्र था। इसीलिए उधर से कोई सेना नहीं आ रही थी। चालुक्य के इस घोर विश्वासघात और षड्यन्त्र की सूचना पाकर महाराज हतप्रभ रह जाते हैं। उसी समय प्रतिहारी शैवालिक को पकड़ कर लाते हैं जो अपने को नरेश चालुक्य का दूत कहकर एक पत्र महाराज को देता है। इस पत्र में चालुक्य ने महाराज से आत्मसमर्पण करने को कहा था। महाराज इस समाचार को पढ़कर चौंक उठते हैं और चिन्तित हो उठते हैं क्योंकि वे अपनी सारी सेना सेनापति सहित बंग प्रदेश में छोड़ आए थे। किन्तु धर्मपद सभी लोगों को न केवल प्रतिकार के लिए उत्साहित करता है वरन् दूत शैवालिक से भी महाराज की ओर से यह कह देता है कि उन्हें विश्वासघाती अत्याचारी चालुक्य की चुनौती स्वीकार है।

शैवालिक चुनौती सुनकर लौट आता है। उसके जाते ही महाराज कहते हैं कि महाशिल्पी विशु ने धर्मपद को प्रधान शिल्पी का पद दिया और आज वे उसे कोणार्क का दुर्गपति नियुक्त करते हैं। धर्मपद सभी लोगों को अलग-अलग कार्य सौंप देता है और स्वयं शिखर पर खड़े होकर निर्देशन करने का निश्चय करता है। मन्दिर का प्रवेश द्वार पहले ही महेन्द्र बन्द करवा चुका था। महेन्द्र के सुझाव पर यह निर्णय लिया जाता है कि किसी प्रकार दिन भर चालुक्य

को मन्दिर में प्रवेश करने से रोक रखा जाए। रात में लड़ाई बन्द होते ही महाराज समुद्र मार्ग से जगन्नाथपुरी चले जाएँगे और दूसरे दिन अपनी सेना साथ लेकर पीछे से चालुक्य पर आक्रमण कर देंगे। और इसके साथ ही महाराज अन्दर के कक्ष में चले जाते हैं तथा बाहर युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। विशु धर्मपद के विषय में सोचने लगता है कि आखिर यह उत्साही और अद्भुत प्रतिभा-समपन्न युवक कौन है? इसी के साथ द्वितीय अंक की कथा समाप्त होती है।

तृतीय अंक का प्रारम्भ सौम्यश्री और विशु के वार्तालाप से प्रारम्भ होता है। अन्य घायलों के साथ ही धर्मपद भी गम्भीर रूप से घायल और मूर्च्छित है। जिस समय धर्मपद धरती पर घायल होकर गिरा था उस समय उसके गले से एक हार गिर जाता है जिसे विशु उठा लेता है। उस हार में अंकित मूर्ति को देखकर विशु को ज्ञात होता है कि वह उसी का पुत्र है और तब वह सौम्यश्री को बतलाता है कि जिस वनकन्या को गर्भावस्था में निराश्रित छोड़कर विशु भाग आया था, धर्मपद उसी का पुत्र है। उसी समय घायल धर्मपद अपने गले का हार खोजते हुए उनके निकट आता है और जब उसे यह बतलाया जाता है कि वह महाशिल्पी विशु का पुत्र है तो वह भी विस्मित हो उठता है। तीनों व्यक्ति परस्पर वार्तालाप कर ही रहे होते हैं कि एक प्रतिहारी द्वारा उन्हें सूचना मिलती है कि चालुक्य के साथियों ने मन्दिर की एक प्राचीर तोड़ डाली है और वे उसमें होकर मन्दिर के अन्दर आने का प्रयास कर रहे हैं। धर्मपद बाहर जाने को तत्पर हो उठता है किन्तु सत्रह वर्ष बाद प्राप्त अपने पुत्र को युद्धरत होते देख विशु का हृदय अपार ममता से भर उठता है। वह उसे रोकने का प्रयास करता है किन्तु धर्मपद उसे अपने कर्त्तव्य-पालन का बोध करा कर पुनः लड़ने चला जाता है। विह्वल विशु सौम्यश्री से अनुरोध करता है कि वह धर्मपद के प्राण बचाने का प्रयास करे।

धर्मपद शत्रुओं से जूझ पड़ता है किन्तु कब तक लड़ता? शत्रुओं ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। प्रतिशोध की अग्नि में जलता विशु हथौड़ा लेकर गर्भगृह में घुस जाता है और अन्दर से द्वार बन्द कर लेता है। जिस समय चालुक्य अपने साथियों के साथ सौम्यश्री को पकड़ कर मन्दिर के अन्दर घुसते हैं, उस समय विशु तत्परता से चुम्बक तोड़ने में लगा था। चालुक्य और सौम्यश्री के बार-बार कहने पर भी वह द्वार नहीं खोलता है और चुम्बक को तोड़ने में लगा रहता है। चालुक्य अन्ततः द्वार तोड़ देने का आदेश देता है और विशु को पुकार कर पूछता है कि महाराज कहाँ हैं? ज्यों ही सब लोग द्वार तोड़ कर गर्भगृह के अन्दर प्रवेश करते हैं, वे सूर्य की निराधार स्थित प्रतिमा को हिलते देखकर कांपने लगते हैं। विशु ऊपर चुम्बक के पास दिखायी पड़ता है। चालुक्य उसे रुक जाने का अनुरोध करता है किन्तु उसी समय विशु के अन्तिम प्रहार

से चुम्बक टूट जाता है और चुम्बक के टूटते ही त्रिपटधर, सूर्य की प्रतिमा, दीवारें आदि सब चालुक्य एवं उसके साथियों के ऊपर गिर पड़ते हैं। उनके साथ ही विशु भी गिर पड़ता है। इस प्रकार बारह वर्ष तक अपनी अनथक मेहनत और कला के जाज्वल्यमान प्रतीक मन्दिर को ढहाकर विशु अत्याचारी चालुक्य से अपने प्रतिशोध का बदला लेता है। अत्याचारियों का विनाश होता है और उस महानाश के निमित्त एक अपूर्व कलाकृति भी खण्डहरों में परिवर्तित हो जाती है। कोणार्क मन्दिर के वे अवशेष आज भी महाप्रतापी नरसिंहदेव की कलाप्रियता, महाशिल्पी विशु की कला की चरमोत्कृष्टता एवं अत्याचारियों के विनाश की कथा कह रहे हैं। इस कथन के साथ ही 'कोणार्क' नाटक में वर्णित कथावस्तु भी समाप्त होती है।

२. कोणार्क : ऐतिहासिकता

साहित्य की अन्य विधाओं की भांति नाटक में भी इतिहास को आधार बनाकर कथाएँ प्रस्तुत की जाती रही हैं। ऐतिहासिक नाटकों से एक लाभ यह है कि प्राचीन जन जीवन, तत्कालीन परिवेश और आचार-व्यवहार की जानकारी के साथ ही हमें अपने पूर्वजों के आदर्शों, शौर्य और जीवन-मूल्यों से परिचय मिल जाता है। इतिहास का सामान्य अर्थ भूतकाल की घटनाओं का और उन घटनाओं से सम्बन्धित स्त्री-पुरुषों के चरित्रों का लिपिबद्ध स्वरूप है। इतिहास प्राचीन परिभाषा के अनुसार, अनुभव के आधार पर शिक्षा देने वाले दर्शन का नाम है। ऐतिहासिक नाटक के दो मूल तत्व हैं : इतिहास और नाटक। ऐतिहासिक नाटककार के पास वे ही उपकरण होते हैं जो कि इतिहासकार के पास होते हैं परन्तु ऐतिहासिक नाटकों का सम्बन्ध इतिहास की सम्पूर्णता से न होकर ऐतिहासिककाल विशेष, घटना-विशेष और फल-विशेष से ही होता है। इतिहासकार का कार्य करते हुए भी इतिहासकार और नाटककार में अन्तर है। इतिहासकार अपने सभी उपकरणों के माध्यम से जो सृष्टि करता है वह देश, काल और घटना एवं संस्कृति के उत्तरोत्तर परिवर्तनों की यथार्थ सूची से सम्बन्धित है। नाटककार उस सूची के अंश विशेष को ग्रहण कर उसे नाटक के सूक्ष्म शरीर में इस प्रकार सुसज्जित कर देता है कि वह साहित्य का रसपूर्ण अंग बन जाता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक नाटक में नाटककार ऐतिहासिक व्यक्ति या घटना को अपनी कल्पना के रंग में रंग कर रसवान् एवं सप्राण रचना का रूप देता है। नाटककार जनश्रुतियों को भी आधार मानकर उन्हें संकलित करता है और

अपनी कल्पना के द्वारा उन्हें संभावित रूप प्रदान करता है। यदि वह व्यक्ति या घटना में कल्पना का संयोग न करें तो वह नाटकीय रचना साहित्य न होकर शुष्क इतिहास बन जाती है। अस्तु, कल्पना का संयोजन किसी भी ऐतिहासिक रचना के लिए आवश्यक है। किन्तु नाटककार को अपने ऐतिहासिक नाटक में काल-विशेष की पृष्ठभूमि का ध्यान रखना आवश्यक है। जिस काल-खण्ड को लेकर नाटक की रचना की गई हो, उस काल का वातावरण एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण उसमें हो। पाठक अथवा प्रेक्षक पर वातावरण का ऐसा प्रभाव पड़ना चाहिए कि ऐतिहासिक नाटक देखकर वह यह अनुभव करें कि तत्कालीन वातावरण में ही वह विचर रहा है।

जहाँ तक कोणार्क नाटक का प्रश्न है, यह रचना एक प्रख्यात ऐतिहासिक विषय पर आधृत है। लेखक ने अपनी भूमिका में स्वयं इस ऐतिहासिकता के प्रश्न पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सूर्यदेव का ध्वस्त मन्दिर कोणार्क में आज भी स्थित है और यह तत्कालीन महाराज नरसिंहदेव के निर्देश पर ही निर्मित किया गया था। इस संदर्भ में लेखक का कथन उद्धृत करना समीचीन होगा—"ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल, भव्य और कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला के साक्षी रूप खड़े हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ मन्दिर सूर्यदेवता का देवालय कोणार्क में स्थित है। कोणार्क के देवालय के विषय में कतिपय ऐतिहासिक तथ्य विचारणीय हैं। एक तो यह कि मध्यकालीन उड़ीसा में मन्दिरों की परम्परा में यह अन्तिम भवन है। इसके बाद न जाने कैसे और क्यों उड़ीसा में उस कोटि और शैली के मंदिरों का बनना ही बन्द हो गया और मानो शिल्पियों के कुल ही तिरोहित हो गए। ×× जहाँ अन्य मन्दिर पुरी और भुवनेश्वर जैसे नगरों में बनाए गए, कोणार्क के लिए ऐसा स्थान चुना गया जिसके आस-पास दूर तक आबादी नहीं थी। पुरी से उन्नीस मील दूर समुद्र तट पर यह मन्दिर स्थित है। ×× मन्दिर क्यों टूटा, इस विषय में उड़ीसा में एक किंवदन्ती प्रचलित है, जिसे अंशतः ही मैंने अपने नाटक का आधार बताया है। इतिहास का सहारा भी मैंने अल्प मात्रा में ही लिया है, फिर भी इस नाटक को पूर्णतः अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता। गंगवंशीय महाप्रतापी राजा नरसिंहदेव का उड़ीसा में राज्यकाल ईसवी सन् १२३८ से १२६४ तक माना जाता है और कुछ जागीरों के लेख-पत्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि नरसिंहदेव ने कोणार्क का निर्माण कराया। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि नरसिंहदेव ने बंग प्रदेश में मुसलमान सूबेदारों को पराजित किया और गौड़ तक अपनी सेना को ले जाकर अनेक वर्षों तक बंग प्रदेश में वे यवनों से लड़ते रहे। नरसिंहदेव के दरबार के प्रसिद्ध कवि विश्वनाथ (साहित्य दर्पण के रचयिता) ने अपनी अलंकार शास्त्र की पुस्तक एकावली में नरसिंहदेव

को 'यवनावलिवल्लभ' कहकर सम्बोधित किया है। नरसिंहदेव के मंत्रियों में प्रमुख थे पूर्वीय चालुक्य वंश के राज राज। यह बात श्री कूर्मम के लेख से प्रमाणित होती है।"

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नाटककार श्री माथुरजी ने कोणार्क नामक नाटक की कथावस्तु निर्मित की है और उसमें भी कोणार्क मन्दिर के निर्माता के रूप में नरसिंहदेव का ही वर्णन किया है। किन्तु नाटककार ने मन्दिर के ध्वंस का कारण एक तो कलाकार के युगयुगीन अन्तर्द्वन्द्व को ठहराया है और इसके लिए महामात्य चालुक्य को विश्वासघाती सिद्ध किया है क्योंकि नाटकीय कथा के अनुसार चालुक्य ने स्वयं नरेश बनने की महत्वाकांक्षा से ही सूर्य मन्दिर पर इसलिए आक्रमण किया ताकि नरसिंहदेव को बंदी बनाया जा सके। किन्तु क्या नरसिंहदेव के किसी महामंत्री ने ऐसा जघन्य कार्य किया और क्या सचमुच ही सूर्य देव के ध्वंस का यही कारण था? इस संदर्भ में यद्यपि इतिहास मौन है कि विशु ने कोणार्क निर्माण में प्रधान शिल्पी की हैसियत से कार्य किया अथवा नहीं। केवल किंवदन्तियाँ यही कहती हैं कि विशु, धर्मपद आदि ने मन्दिर का निर्माण किया था। इस दृष्टि से इसी विषय-वस्तु पर लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास 'सूर्यरथ' को देखने से घटनाक्रम में पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है। 'सूर्यरथ' के लेखक श्री उमाशंकर ने तो कोणार्क के रचयिता पर खुला आक्षेप लगाते हुए भूमिका में लिखा भी है—"नरसिंहदेव के शासनकाल में उसके किसी मंत्री ने कभी विद्रोह नहीं किया था। फिर भी, माथुर साहब के अनुसार नरसिंहदेव के मंत्रियों में प्रमुख मंत्री राजराज चालुक्य ने नरसिंहदेव के विरुद्ध विद्रोह करके उस समय उसे बंदी बनाने का प्रयत्न किया था। जब वह बंग प्रान्त के सूबेदार को परास्त करके विजय-पताका फहराता हुआ लौटा था, यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य यह है कि बंग-सूबेदारों द्वारा किए गए तीनों (१२४३ १२४७ और १२५५) आक्रमणों का मुंहतोड़ उत्तर देकर लक्ष्मणावती तक उत्कल की सीमा बढ़ाने का श्रेय नरसिंहदेव के जामाता एवं सेनापति परमारि देव को है।

स्वयं नरसिंहदेव द्वारा सैन्य संचालन का वृत्तान्त कहीं नहीं है। और तो और, राजराज चालुक्य ने नरसिंहदेव को बन्दी भी बनाना चाहा तो कोणार्क में उस अवसर पर जब उत्कल का सारा जन-समाज मन्दिर के प्रतिष्ठापन पर एकत्र था। संभवतः राजराज भूल गया था कि बंग प्रान्त से लौटते समय नरसिंह देव को बीहड़ जंगलों में घेर कर सरलतापूर्वक उसके अस्तित्व का अन्त किया जा सकता था। केवल यह सिद्ध करने के लिए कि शिल्पी छैनी हथोड़े के संग तीर-कमान भी चला सकते हैं, माथुर साहब ने उपर्युक्त अनैतिहासिक घटना का सृजन किया है।" इतना ही नहीं, उमाशंकरजी ने यह भी प्रमाणित किया है कि कवि विश्वनाथ नरसिंहदेव के दरबार में नहीं अपितु

निःशंक भानुदेव चतुर्थ (१४२०-१४३५) के दरबार में थे और कि एकावली के लेखक विश्वनाथ नहीं, विद्याधर थे। इन तथ्यों से यह स्पष्ट पता चलता है कि माथुरजी ने एक ऐतिहासिक घटना को अपने मनोनुकूल तोड़ा-मरोड़ा है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि रचनाकार को ऐतिहासिक घटना में अपने मनोनुकूल कल्पना का सामंजस्य करने का अधिकार रहता है और अपने इस अधिकार के विषय में सफाई देते हुए स्वयं माथुरजी लिखते भी हैं—"जिस लोकप्रिय किंवदन्ती के आधार पर उड़िया में श्री गोपबन्धुदास के खण्डकाव्य धर्मपद, कार्तिक घोष के नाटक और अन्य रचनाओं का प्रणयन हुआ, मैंने उसका रूप इस नाटक में इतना बदल दिया है कि शायद वे उसे पहचान भी न पायें और रुष्ट भी हों कि मैंने एक ललित और करुण रस से पगी कहानी को इस रौद्र रूप में प्रदर्शित किया है। ×× प्रणय की अठखेलियों और भाग्य के थपेड़ों के आधार पर कोणार्क के खण्डहरों का सहारा ले एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने से मुझे संतोष नहीं हुआ। मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष, जो सौंदर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खण्डन के क्षण में फूट निकला हो। चिन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है उस पौरुष को मैंने वाणी देने की धृष्टता की है।"

स्पष्ट है कि ऐतिहासिक घटना का आधार लेकर लेखक ने उसमें अपनी कल्पना को ही अधिक महत्त्व दिया है, यहाँ तक कि ऐतिहासिक व्यक्तियों तक को उसने सही परिप्रेक्ष्य में नहीं रखा। ऐसा लगता है जैसे इतिहास की पीठिका पर सारा कथानक ही कल्पना पर आधृत है।

निष्कर्षतः हम कोणार्क नाटक के कथानक को पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं कह सकते। वास्तव में नाटकीय कथानक की मात्र पृष्ठभूमि अर्थात् कोणार्क के सूर्य मन्दिर की घटना ही ऐतिहासिक है अन्यथा सारा कथापट कल्पना से बुन गया हैं। नरसिंहदेव ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य हैं किन्तु उनसे सम्बद्ध घटनाएँ भी प्रायः काल्पनिक ही हैं।

३. कोणार्क : कथाशिल्प

प्रत्येक नाटक में एक कथासूत्र आदि से अन्त तक प्रवर्धमान रहता है। नाटककार साधारण में से असाधारण को चुनकर ही महान् बन सकता है और अपनी नाट्यकृति को महनीय बना सकता है। साहित्य-स्रष्टा सदैव महती अन्त दृष्टि, प्रभावात्मकता एवं व्यापक संवेदनशीलता की वरेण्य कसौटी पर कसकर ही किसी विषय को चुनता है। जो घटना जीवन के मर्म को घर्षित कर उसमें प्राण

ज्योति और गति का संचार करने में पूर्णतया सक्षम हो सके, वही सृष्टा की प्रतिभा एवं मेधा की संगिनी बनकर कलापूर्ण महती कृति का रूप धारण कर सकती है। वस्तुतः नाटक मूलतः एक कलापूर्ण कृति है, अतः उसमें दिग्दर्शित जीवन के कार्य-व्यापार एवं सामान्य घटनाएँ सरल एवं स्वाभाविक होते हुए भी कलाकार की प्रतिभा, कौशल एवं शिल्प के संयोग से असाधारण हो जाते हैं। कथानक का चयन एवं उसका व्यवस्थित कलापूर्ण प्रस्तुतिकरण ही नाटककार की महानता के मानदण्ड हैं। नाटकों में कथावस्तु विविध रूपों में प्रस्तुत होती है, यथा—मुख्य कथानक, प्रासंगिक कथाएँ एवं उपकथानक। नाटक में इन विविध प्रकारात्मक कथानक-रूपों के आ जाने से उसमें पात्रों की संख्या और कृति के कलेवर में वृद्धि हो ही जाती है। फलतः न मुख्य कथानक का ही पूर्ण संगठन हो पाता है और न पात्रों का चरित्र विकास ही ऐसी अवस्था में संभव होता है—नाटक में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है।

वास्तव में नाटक का मुख्य एवं अकेला कथानक ही अपने आप में इतना मर्यादित, सुगठित, पूर्ण, गतियुक्त, मौलिक, प्रभावपूर्ण एवं अभिराम होना चाहिए कि पाठक दर्शक को मनोरंजन के लिए किसी अन्य दिशा की ओर दृष्टि न दौड़ानी पड़े। प्रभावान्विति के लिए भी यह कथानक दृष्टि परमावश्यक है। यदि किसी प्रकार से नाटककार को उपकथानक अथवा प्रासंगिक कथानक को नाटक में रखना ही हो तो उसकी मुख्य कथा के साथ शतप्रतिशत संगति बैठानी चाहिए। इतिहास और कल्पना कथावस्तु के आधार हैं। इतिहास के पृष्ठों में न जाने कितने मर्मस्पर्शी प्रसंग शुष्क, मूर्छित एवं उपेक्षित से दबे पड़े रहते हैं। नाटककार उन्हें अपनी मानवीय भावना और कला से सज्जित कर तथा नाटकीय अभिरामता देकर अमर बना देता है। स्पष्टतः नाटककार इतिहास के शुष्क कलेवर में से जीवन्त सामाजिक चेतना के स्फूलिंगों को निकाल लाता है और दर्शक-पाठक के सामने तत्कालीन युग के अन्तचरित्र को ज्यों का त्यों रख देता है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर का कोणार्क नाटक हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि करता है। उसमें नाटककार ने ध्वस्त कोणार्क के सूर्यमन्दिर के ऐतिहासिक प्रसंग को नाटकीय कथानक के माध्यम से उजागर करना चाहा है, जिसमें ऐतिहासिकता पर उतनी गम्भीर दृष्टि नहीं रखी गयी है, जितनी मानवीय संवेगों एवं प्रतिक्रिया पर। यही कारण है कि नाटक का कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी मानवीय भावना से ओतप्रोत है।

अब हम अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में कोणार्क नाटक के कथा-शिल्प का मूल्यांकन करेंगे और देखेंगे कि उसमें नाट्यशिल्पगत वैशिष्ट्य के संदर्भ में तथा किस-किस प्रकार से रूपायित हो सका है।

किसी भी नाटक की कथावस्तु में निम्न गुणों का होना वांछनीय है।

(१) कथानक मौलिक, संक्षिप्त एवं रोचक हो।
(२) उसमें आई अवान्तर घटनाएं मुख्य कथा से सुसम्बद्ध हों।
(३) कथानक का आदि, मध्य और अन्त स्पष्ट और प्रभावक हो।
(४) रस-योजना उसमें हो।
(५) कथानक में अन्तर्बाह्य संघर्ष अवश्य हो।
(६) नाटकीय कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों एवं संधियों का सुन्दर समायोजन हो।

उपर्युक्त गुणों की कसौटी पर अब हम 'कोणार्क' नाटक की परीक्षा करेंगे।

(१) **कथानक में मौलिकता, संक्षिप्तता एवं रोचकता**—माथुरजी को नाटकीय कथावस्तु के मंचन का पूर्ण अनुभव है, इसलिए उनके प्रस्तुत नाटक में जिस कथावस्तु को नाटककार ने चुना है उसमें पूर्ण मौलिकता, संक्षिप्तता एवं रोचकता का सम्यक् निर्वाह उपलब्ध होता है। माथुरजी ने कोणार्क के ध्वस्त मन्दिर की कथा के परिप्रेक्ष्य में विशु के जिस मार्मिक जीवन-प्रसंग को चुना है और इस ऐतिहासिक घटना के पीछे कलाकार की जिस विद्रोह-धर्मिता एवं प्रतिशोध-कामना को व्यंजित किया है, उस पर अब तक किसी भी रचनाकार की लेखनी नहीं उठी थी। जहां तक इस नाट्यकृति की कथावस्तु की कोटि का प्रश्न है, इसमें प्रख्यात और उत्पाद्य का मिश्रित रूप मिलता है। इसलिए हम इसे मिश्रित कथावस्तु की कोटि में ही स्वीकृत करते हैं, क्योंकि इसमें नाटककार ने प्रख्यात और कलापूर्ण कोणार्क के ध्वस्त सूर्यमन्दिर के कथानक को प्रस्तुत करते हुए उसी से सम्बद्ध सभी ऐतिहासिक एवं कल्पित पात्रों का चरित्रांकन ऐकान्तिक रूप से कल्पना के आधार पर ही किया है। घटना ऐतिहासिक हैं किन्तु कारण अधिकांशतः कल्पना पर आश्रित है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु को इतने संक्षिप्त और सुगठित रूप में प्रस्तुत किया गया है कि वह मंच के सर्वथा अनुकूल है। यहां यह ध्यातव्य है कि मंच पर प्रस्तुत होने वाले नाटक की कथावस्तु यदि दीर्घ, अनेकांकी तथा अनेक दृश्यों वाली हो तो उसका मंचन दुसाध्य हो जाता है। लम्बे नाटक को देख सकने का धैर्य भी अब दर्शकों में नहीं रह गया है। इस प्रकार यह स्वतः स्पष्ट है कि रंगमंचीय नाटक की कथावस्तु को इतना संक्षिप्त अवश्य होना चाहिए कि उसका अभिनयन दो-तीन घण्टों के मध्य अवश्य सम्पन्न हो जाना चाहिए। माथुरजी को रंगमंच का पर्याप्त अनुभव है, इसलिए उनके नाटकों की कथावस्तु में संक्षिप्तता का गुण स्वतः आ गया है। 'कोणार्क' नाटक में केवल तीन अंक हैं और तीनों अंकों में केवल दो दृश्यों में समस्त कथानक को घटित किया गया है। कथानक के पारस्परिक सूत्रों को जोड़ने के लिए उपक्रम-उपकथन और उपसंहार का विशिष्ट प्रयोग किया गया है। इससे नाटक के मंचन में

बड़ी सहायता मिली है। यही कारण है कि अपनी संक्षिप्तता एवं रंगमंचीय अनुकूलता से यह नाटक अनेक बार अभिनीत हो चुका है। संक्षेप में ही, कथा-वस्तु एवं घटनाओं का इतनी द्रुतगति से विकास किया गया है कि दर्शक मुग्ध होकर देखता रह जाता है।

नाटक की कथावस्तु में मौलिकता एवं संक्षिप्तता के साथ ही रोचकता का गुण भी उद्भुत है। इसमें पात्र संख्या अत्यन्त सीमित है और कोई भी पात्र अपने संलाप की वृद्धि नहीं करता वरन् जिसका कार्य जहां पर समाप्त होता है वह पात्र भी उसके बाद तभी दिखाई देता है जब उसकी आवश्यकता कथानक में अनुभव होती है। नाटक में पात्र संख्या यदि अधिक हो तो वह दुर्बोध हो जाता है, दूसरे उसका अभिनयन भी कठिन हो जाता है। दर्शकों के सामने पात्रों की अस्मिता की यह पहचान का संकट खड़ा हो जाता है और व्यवस्थापक एवं निर्देशक भी रंगमंच की कठिनाई का सामना करता है। इस दृष्टि में 'कोणार्क' अत्यन्त सफल नाटक है। पात्रों की कम संख्या और घटनाओं के उतार-चढ़ाव से नाटक अत्यन्त रोचक बन पड़ा है। यद्यपि यह रोचकता कहीं भी देखी जा सकती है किन्तु तृतीय अंक में तो वह दर्शक-पाठक को भाव-विह्वल बना देती है।

(२) **अवान्तर घटनाओं की मुख्य कथाओं से सम्बद्धता**—नाटक में मुख्य कथा के साथ-साथ कुछ अवान्तर घटनाओं के संयोजन का प्रावधान भी नाट्य शास्त्र में किया गया है। आशय यह है कि मुख्य कथा के साथ नाटक में कुछ सहायक कथाएँ भी चलती हैं जिन्हें पताका और प्रकरी की संज्ञा दी जाती है। नाटक की मुख्य कथा ही उसकी मूल कथावस्तु कहलाती है जो कृति के नायक एवं नायिका से सम्बद्ध रहती है और नाटक में आदि से अन्त तक चलती रहती है। पताका वह कथा है जो नाटक के मध्य भाग से प्रारम्भ होकर अन्त तक चलती है और मुख्य कथा से पूर्णतः सम्बद्ध रहती है जबकि प्रकरी वह कथांश है जो नाटक के किसी प्रसंग-विशेष में चलती है और मुख्य कथा को कुछ गति देकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार पताका और प्रकरी मुख्य कथानक से पूर्ण सम्बद्ध होनी चाहिए। आलोच्य नाटक की कथावस्तु का सम्यक अनुशीलन करने पर यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि विशु, धर्मपद और कोणार्क मन्दिर के ध्वंस से सम्बद्ध कथा ही नाटक की मुख्य कथा है और यह नाटक पर आद्यान्त छाई रहती है। नाटककार ने प्रकरी नामक कथा का संयोजन तो नहीं किया है किन्तु विशु की पूर्व प्रेमिका और धर्मपद की माता सारिका की स्मृत्यात्मक कथा में पताका के लक्षण अवश्य देखे जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोणार्क नाटक की कथावस्तु अवान्तर कथाओं-घटनाओं की सुसम्बद्धता की दृष्टि से भी पूर्णतः सफल है।

(३) कथानक के आदि, मध्य और अन्त की स्पष्टता और प्रभावकता—नाटक का प्रारम्भ, उसका मध्य और अन्त किस ढंग से हो, यह भी एक प्रमुख प्रश्न है। कुछ लोग आरम्भ में किसी दृश्य के चित्र को लेते हैं, कुछ लोग रहस्य की सृष्टि करके कथासूत्र पकड़ते हैं और कुछ लोग स्वाभाविक विकास की दृष्टि से कथा प्रारम्भ करते हैं। इसी प्रकार कुछ नाटककार कथा का अंत स्वाभाविक ढंग से करते हैं। कुछ रहस्यमय ढंग से और कुछ नाटकीय मोड़ देकर। साथ ही, नाटक का अंत घात-प्रतिघातों के पश्चात् सुखान्त-दुःखान्त अथवा प्रसादान्त रूप में करते हैं। पाश्चात्य दृष्टिकोण से दुःखान्त नाटक श्रेष्ठ होते हैं किन्तु भारतीय परम्परा सुखान्त अथवा प्रसादान्त नाटकीय समापन को उचित ठहराती है। इस दृष्टि से माथुरजी का नाटक 'कोणार्क' दुःखान्त की श्रेणी में आता है। क्योंकि उसकी कथावस्तु त्रासदीपरक अथवा दुखान्त ही है जिसमें नाटककार ने प्रायः सभी मुख्य पात्रों के निधन के साथ ही अपूर्व कलाकृति सूर्य-मन्दिर को भी ध्वस्त होते दर्शाया है। नाटक का प्रथम अंक उसकी कथावस्तु का आरम्भ अथवा आदि कहा जा सकता है। इस अंक में दर्शकों को यह ज्ञात हो जाता है कि विशु उत्कल का एक उत्कष्ट और प्रधान शिल्पी है जिसके नेतृत्व में उत्कल नरेश नरसिंहदेव की आज्ञानुसार बारह-सौ शिल्पी एवं हजारों मजदूर रात-दिन एक करके अभूतपूर्व सूर्य-मन्दिर के निर्माण में रत हैं। नरसिंहदेव यवनों का विनाश करने बंग प्रदेश में गए हुए हैं और उनकी अनुपस्थिति में महामात्य चालुक्य न केवल शिल्पियों के हाथ काट देने की धमकी देता है वरन् समस्त में अत्याचारों को बढ़ावा भी देता है। विशु मन्दिर में कलश स्थापित करने में असमर्थ है किन्तु तभी एक युवक धर्मपद उसे आश्वासन देता है कि किस प्रकार कलश को स्थापित किया जा सकता है। विशु एवं धर्मपद के इस विचार-विमर्श के मध्य ही प्रथम अंक समाप्त हो जाता है। इसे नाटकीय कथावस्तु का प्रारम्भ ही कहा जाएगा, क्योंकि दर्शक के मन में भावी घटनाओं के प्रति यहीं से उत्सुकता प्रारम्भ हो जाती है और घटनाक्रम का आभास भी उन्हें मिल जाता है। द्वितीय अंक है कि चालुक्य की सेना द्वारा मन्दिर में घिरे महाराज निहत्थे शिल्पियों की सहायता से बच सकेंगे या नहीं, और कि घटनाक्रम का अन्त क्या होगा ? इस दृष्टि से घटनाओं में घात-प्रतिघात की यह स्थिति दर्शकों को क्षुब्ध एवं जिज्ञासु बना देती है। यहीं पर दर्शकों के मन में महाराज, धर्मपद एवं विशु आदि के प्रति मंगलाकांक्षा का भी अभ्युदय होता है और अत्याचारी चालुक्य के प्रति घृणा भी। अतः नाटक का द्वितीय अंक ही नाटकीय कथावस्तु का मध्य भाग है और नाटककार ने बड़ी सफलता से उसका नियोजन किया है। नाटकीय कथावस्तु के अन्त की स्थिति उसकी परिपूर्णता में ही आती है अर्थात् उसके बाद कथा आगे बढ़ने में असमर्थ रहती है और मध्य भाग से वह सम्बद्ध रहती है। कोणार्क' का तृतीय अंक इस दृष्टि से कथावस्तु का अंत है। नायक विशु के चरित्र की अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्थिति का

बड़ा सुन्दर निर्देशन इस अंक में हुआ है। इसलिए इस अंक में भावनात्मकता का प्रबल आवेग दृष्टि-गोचर होता है। विशु को जब घायल धर्मपद, जोकि विशु का पुत्र प्रमाणित हो चुकता है, अपने कर्त्तव्य का बोध करा जाता है तो धर्मपद की मृत्यु निश्चित जानकर और अपनी प्रिय कलाकृति को आततायियों के हाथों में जाता देख विशु प्रतिशोध लेने का संकल्प करता है और मन्दिर के चुम्बक को तोड़कर मन्दिर को गिरा देता है जिससे सभी व्यक्ति मारे जाते हैं किन्तु महाराज चूंकि रात्रि में ही जगन्नथपुरी की ओर भाग निकले थे, इसलिए उनकी प्राणरक्षा हो जाती है और मन्दिर का ध्वंस और उसमें कर रहे समस्त लोगों का कारुणिक अवसान ही नाटक का अंत है। इस प्रकार पाश्चात्य दृष्टि-कोण से नाटक के आदि, मध्य और अन्त की स्पष्टता से प्रस्तुत नाटक पूर्णतः सफल रचना है। नाटक का अंत सुखान्त बनते-बनते दुःखान्त बनकर रह गया है। इस संदर्भ में एक तथ्य ध्यान देने योग्य यह है कि नाटककार ने उपक्रम, उपकथन एवं उपसंहार द्वारा घटनाक्रम के जो स्पष्ट संकेत दिये हैं उन्हीं से कथाक्रम का भी तीनों भागों में स्पष्ट विभाजन हो जाता है।

(४) **रस-योजना**—संस्कृत नाट्याचार्यों ने नाटक में रसाभिव्यक्ति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। भारत के नाट्यशास्त्र में तो इस प्रसंग में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि नाटक का मुख्य ध्येय दर्शकों में रस-संचार करना है। 'कोणार्क' नाटक रस-योजना की दृष्टि से भी पूर्ण सफल है। इसमें वीर एवं रौद्ररस के उदात्त रूप की सफल अभिव्यंजना हुई है। प्रधान रस तो वीर ही है किन्तु विशु के पूर्व प्रणय के प्रसंगों में शृंगार एवं अन्त में रौद्ररस की विवृति हुई है। नाटक के नायक विशु के चरित्र में प्रेम की भावना और कालान्तर में पुत्र की ममता और उस पुत्र की हत्या के कारण उसके कृत्य रौद्र रूप में दिखाई पड़ते हैं जब कि समस्त कथानक पर छा जाने वाला और समस्त पात्रों को अपने महान् चरित्र की छाया में ले लेने वाला धर्मपद सारी कथावस्तु में उत्साह नामक संचारी भाव को फैलाता रहता है और इसी कारण वीर रस नाटक का प्रधान रस बन गया है। अपनी इसी सुंदर रस-योजना के कारण नाटकीय कथावस्तु बड़ी मर्मिक एवं सहज संवेदनीय बन सकी है और उसमें संप्रेषणीयता की अभिवृद्धि हुई है।

(५) **अन्तर्बाह्य संघर्ष की योजना**—नाटक की कथावस्तु में स्थान-स्थान पर संघर्ष की स्थितियाँ उसे रोचक और आनन्ददायी बना देती हैं। पाश्चात्य दृष्टिकोण नाटकीय कथावस्तु में अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य-द्वन्द्व का पक्ष-धर है क्योंकि इससे जहाँ नायक को बाह्य संघर्षों में रत दिखाया जाता है वहाँ उसके अपने अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करके उसके चरित्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म ग्रंथियों को भी नाटककार बड़ी कुशलता से चित्रित कर सकने में समर्थ होता है। 'कोणार्क' में यह अन्तर्बाह्य संघर्ष स्पष्ट रूप में दर्शाया गया है। एक ओर

जहाँ अत्याचारी और विश्वासघाती चालुक्य स्वयं के नरेश बन जाने की घोषणा करके धर्मपद के नेतृत्व में श्रमिकों और चालुक्य की सेना में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करता है, वहीं दूसरी ओर धर्मपद को अपने पुत्र के रूप में पाकर विशु के अन्तर्द्वन्द्व को अत्यधिक पैने रूप में चित्रित किया गया है। सूर्यमन्दिर के ध्वंस के पूर्व विशु के अन्तर्द्वन्द्व का बड़ी बारीकी से नाटककार ने चित्रण किया है और दर्शाया है कि विशु की प्रतिशोध-भावना से ही अन्ततः कलापूर्ण सूर्य-मन्दिर का ध्वंस हो गया। विशु के अन्तर्द्वन्द्व और समस्त पात्रों के बाह्यद्वन्द्व की अन्तिम परिणति को नाटककार ने बड़े ही हृदयस्पर्शी रूप में व्यक्त किया है।

(६) नाटकीय कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों एवं संधियों का सुंदर समायोजन—नाटयशास्त्र के अनुसार नाटक के कथानक में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ—बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य का होना आवश्यक है। इन पाँच अर्थ-प्रकृतियों की भी पाँच अवस्थाएँ होती हैं जिनका समायोजन महत्त्वपूर्ण है। यह अवस्थाएँ हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियन्ताप्ति और फलागम। इनके साथ ही पाँच संधियाँ भी सुनियोजित होनी चाहिएं। ये संधियाँ उपर्युक्त अर्थ प्रकृतियों और अवस्थाओं के संयोग से बनती हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहरण। वास्तव में ये संधियाँ कथावस्तु को टुकड़ों में बांट देती हैं और इसलिए स्वभावतः नाटक भी अनेक खण्डों विभक्त हो जाता है। 'कोणार्क' नाटक पाश्चात्य नाट्य शैली में लिखा गया नाटक है। इसलिए इसमें पाश्चात्य दृष्टि-कोण को प्रश्रय मिला है। फिर भी, उपर्युक्त तत्व उसमें मिल ही जाते हैं किन्तु दुःखान्त होने के कारण ये तत्व कथावस्तु में पूर्ण सहयोग नहीं दे सके हैं। जो भी हो, प्रस्तुत नाटक में कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों एवं संधियों का पूर्ण अभाव नहीं है वरन् पाश्चात्य तत्वों Incident (आरम्भ), Rising Action (प्रयत्न), Climax (चरमसीमा) और Denoument (नियताप्ति) तथा Catastrophy (फलागम) में ही वे समायोजित हो गए हैं।

निष्कर्ष—अन्ततः यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु अपने आप में ही सुगठित, मौलिक, रोचक एवं संक्षिप्त है। उसमें कम पात्र होने से घटनाओं में सुसम्बद्धता का सुन्दर समायोजन उपलब्ध होता है। रस एवं अन्तर्बाह्य संघर्ष की योजना में नाटकीय कथावस्तु को भावपूर्ण एवं सहज संवेद्य बनाने में अपूर्व योगदान दिया है। संक्षेप में, कथाशिल्प की दृष्टि से श्री जगदीशचन्द्र माथुर का कोणार्क एक सफल एवं पूर्ण नाटक है।

४. कोणार्क : चरित्रचित्रण

हिन्दी नाट्य-विधा को प्रसादोत्तर काल में नयी दिशा देने वाले नाट्य-शिल्पियों में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का प्रमुख स्थान है। 'कोणार्क' उनका एक ऐसा नाटक है जिसमें ऐतिहासिक एवं काल्पनिक पात्रों तथा सच्ची घटनाओं के माध्यम से कलाकार के संघर्ष को मुखरण प्रदान किया गया है। स्वयं नाटककार इस तथ्य को अपनी भूमिका में विवेचित करता हुआ कहता है—"प्रणय की अटखेलियों और भाग्य के थपेड़ों के आधार पर कोणार्क के खण्डहरों का सहारा ले एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने से मुझे संतोष नहीं हुआ। मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरूष जो सौंदर्य सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खण्डन के क्षण में फूट निकला हो। चिरन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है उस पौरूष को मैंने वाणी देने की धृष्टता की है।" लेखक के इन शब्दों से ही नाटक के पात्रों के चरित्र की एक हलकी किन्तु स्पष्ट छवि भास्वर हो उठती है। इसलिए इन शब्दों पर ध्यान दिये बिना कोणार्क में नाटककार के चरित्रांकन कौशल को न तो समझा ही जा सकता है और न वह मूल्यांकन स्तरीय होगा।

यह सर्व विदित है कि नाटक में पात्रों की सृष्टि अनिवार्य होती है। यह पात्र ऐतिहासिक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी। तात्पर्य यह है कि नाटक में पात्र एवं उनका चरित्रचित्रण, उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है। नाटककार पात्रों के माध्यम से ही अपने मन्तव्य को पाठकों एवं दर्शकों तक संप्रेषित करता है। कोणार्क नाटक में पात्रों का चरित्रांकन किस स्तर पर हुआ है, यह हम आगे देखेंगे।

'कोणार्क' माथुरजी का एक ऐतिहासिक नाटक है और इसके अधिकांश पात्र इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं। सम्पूर्ण नाटक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखा होने पर भी पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं है। इस तथ्य को स्वयं लेखक ने भी स्वीकारा है। किसी भी नाटक को पात्रों की दृष्टि से एवं उनके चरित्रांकन की दृष्टि से सफल होने के लिए निम्नलिखित विशेषताओं से भूषित होना चाहिए क्योंकि इनके बिना किसी श्रेष्ठ नाटक की कल्पना नहीं जा सकती—

(१) पात्रों की संख्या एवं उनका स्वरूप।
(२) पात्रों का यथार्थपरक चित्रण।
(३) चरित्रचित्रण की विधि।
(४) चरित्रांकन के रूप।
(५) चरित्रचित्रण के गुण।

अब हम उपर्युक्त सभी विशेषताओं के आधार पर 'कोणार्क' नाटक में चित्रित पात्र एवं चरित्रांकन पर अलग-अलग विचार करेंगे।

(१) पात्रों की संख्या एवं उनका स्वरूप—नाटक चूंकि सम्प्रेष्य काव्य-विधा है इसलिए उसमें वर्णित पात्रों की संख्या सीमित होनी अपेक्षित है। सीमित से हमारा यह आशय है कि नाटक में उतने ही पात्र हों जिनके बिना मूल कथावस्तु को आघात पहुँचता हो और जो कथानक को सीधे दर्शक तक सम्प्रेषणीय बनाने हेतु नितान्त आवश्यक हों। माथुरजी ने कोणार्क नाटक में इस तथ्य को ध्यान में रखा है। इस दृष्टि से उनका पात्र-संयोजन अत्यन्त सशक्त है। इस नाटक में इतने ही पात्र रखे गए हैं जिनका मूल कथा के साथ सीधा सम्बन्ध है। आलोच्य नाटक में जिन पात्रों को चित्रित किया गया है, उनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित पंक्तियों में दृष्टव्य है :

विशु : नाटक का नायक, अप्रतिम कलाकार, उदार हृदय, स्नेही पिता।

महाराज नरसिंहदेव : उत्कल के महाराज, विश्वासी एवं कला-प्रेमी व्यक्ति।

धर्मपद : जन्मजात प्रतिभाशाली शिल्पकार, स्पष्ट वक्ता एवं अन्याय का विरोधी।

चालुक्य : धूर्त, विश्वासघाती, कूटनीतिज्ञ एवं कला का अनादार करने वाला तथा क्रूर स्वाभाव का व्यक्ति एवं उत्कल का महामात्य।

सौम्यश्री : नाट्यचार्य, कला को समर्पित एवं उदार-हृदय।

राजीव : एक शिल्पकार।

महेन्द्र वर्मन : महाराज नरसिंहदेव का गुप्तचर अधिकारी एवं अंगरक्षक।

शंवालिक : चालुक्य का दूत।

भास्कर एवं गजाधर : शिल्पी।

इनके अतिरिक्त एक सूत्रधार और दो वाचिकाओं सहित कुल पन्द्रह पात्र एवं पात्राएँ नाटक में चित्रित हैं। इनमें से भी केवल पाँच पात्र ही प्रमुख हैं, शेष गौण हैं।

उपर्युक्त पात्रों में से अधिकांश पात्र गतिशील ही हैं। मुख्य रूप से धर्मपद और राजराज चालुक्य, ये दो ही ऐसे पात्र हैं जो स्वभावत : स्थिर चरित्रों की श्रेणी में परिगणित किए जा सकते हैं। विशु का अन्तर्द्वन्द्व उसकी चारित्रिक गतिशीलता में अद्भुत रूप से सहायक हुआ है। महाराज नरसिंहदेव यद्यपि प्रारम्भ में स्थिर चरित्र ही हैं किन्तु अन्ततः वह भी गतिशील हो उठते हैं। वास्तव में पात्रों की यह चारित्रिक गतिशीलता ही घटनाओं में उतार-चढ़ाव लाती है और दर्शकों-पाठकों को आन्दोलित करती है। विशु ने अपनी चारित्रिक गतिशीलता के कारण ही अपने महत्व को निर्विवाद बना दिया है। उसकी चारित्रिक अस्थिरता के कारण नाटकीय घटनाओं में विशेष रूप से तीसरे

और अंतिम अंक में जो मोड़ आया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि यदि विशु का चरित्र स्थिर होता तो कथावस्तु इतनी भावनात्मक एवं करुणा से ओतप्रोत कदापि न बन पाती। किंतु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि धर्मपद स्थिर चरित्र होते हुए भी प्रायः सभी चरित्रों को गतिशील चरित्र बना देता है। अपने प्रभविष्णु व्यक्तित्व से वह न केवल विशु के कलाकार हृदय को आन्दोलित एवं उसे प्रतिशोध लेने को कटिबद्ध करता है वरन् महाराज नरसिंहदेव, राजीव और नाट्याचार्य सौम्य श्रीदत्त को भाव-विह्वल करके उनका हृदय जीत लेता है और उनके निराशा से भरे हृदयों में युद्ध की तत्परता भर देता है। धर्मपद स्थिर चरित्र होते हुए भी एक महान चरित्र है। वह जिसे चाहे उसका हृदय परिवर्तन करने की सामर्थ्य रखता है। हाँ, राजराज चालुक्य अवश्य ऐसा पात्र है जो प्रारम्भ से लेकर अंत तक स्थिर चरित्र रहा है किंतु अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ने में वह भी नहीं चूकता। उसका क्रूर स्वभाव और वचन-विदग्धता उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं। अन्य पात्र प्रायः वर्गगत हैं और अपनी वर्गगत विशेषताएँ ही प्रकट करते हैं।

कुल मिलाकर नाटक के सभी पात्र चाहे स्थिर हों या गतिशील, अपनी विशिष्टताओं के साथ ही अपने व्यक्तित्व और भावनाओं को अधिक प्रकाश में लाए हैं। अपने इसी गुण के कारण ये पात्र सजीव, आकर्षक, विशिष्ट और प्राणवान् हैं।

(२) पात्रों का यथार्थपरक चित्रण—नाटककार माथुरजी ने 'कोणार्क' नाटक में पात्रों का चरित्र-चित्रण यथार्थ के धरातल पर किया है। यही कारण है कि पात्रों में गुण और अवगुण—दोनों ही विद्यमान होते हैं। जो पात्र आदर्श हैं वे भी अपने आदर्श को यथार्थ के धरातल पर ही प्रस्तुत करते हैं। विशु का चरित्र इस प्रसंग में उल्लेख्य है। वह एक आदर्श और निष्ठावान कलाकार है। उसका आदर्श है सादा जीवन उच्च विचार। अपने इन्हीं ऊँचे विचारों के कारण वह एक महान् शिल्पी बन सका किन्तु जीवन में एक बार उसने एक वन्य तरुणी से प्रेम किया और लोकापवाद के भय से उसके साथ छल करके वह भाग आया। यहाँ तक कि उसने अपना मूल नाम श्रीधर भी छोड़ दिया और अपना नाम विशु रख लिया। अपने चरित्र की इस दुर्बलता का यथार्थ वर्णन वह स्वयं अपने मुख से ही करता है। इसी प्रकार राजनीति से दूर रहने वाला यही विशु पुत्र की निर्मम हत्या होते हुए देखकर अपनी आदर्शवादी विचारधारा को भूलकर प्रतिशोध लेने को तत्पर हो उठता है। उसकी प्रतिशोध भावना का ही यह परिणाम होता है कि अपूर्व कलामय सूर्यमन्दिर, जो उसी के बारह वर्ष के कड़े परिश्रम से निर्मित हुआ था, का विध्वंस वह अपने हाथों से ही करता है। उसके इस यथार्थवादी चरित्र का अंकन उसके अन्तर्द्वन्द्व को भी बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत पंक्तियाँ इस तथ्य की प्रमाण हैं—

विशु : (हतबुद्धि सा) कारीगर की हार ! कोणार्क आतंकी के हाथ का खिलौना !

सौम्य : (बाहर का कोलाहल सुनकर) जान पड़ता है—धर्मपद संग्राम में कूद पड़ा है। लेकिन कितनी देर के लिए ! वे लोग आगे बढ़ रहे हैं। विशु, मैं जाता हूं। देखूं, शायद उसे बचा सकूं।

(प्रस्थान)

विशु : (वहीं मुद्रा—कभी बैठता है, कभी घूमता है। बाहरी हलचल की उन्मत्त लहरें उसे छू नहीं पा रही हैं) कोणार्क—मेरी निधि··· कोणार्क—मेरी सृष्टि—अपावन हाथों में, भ्रष्ट हाथों में ? यह कैसा अभिशाप ! ओ अभागे कारीगर, कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार ? (पुनः चुप। दूर नेपथ्य में कोलाहल बढ़ रहा है।) कारीगर की हार !···एं··· (उठकर खड़ा होता है) असम्भव ! कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा।

(विशु तेजी के साथ गर्भगृह के कपाट खोलता है। सूर्यदेवता की मूर्ति कक्ष के बीच पाँच हाथ ऊपर निराधार स्थित है। जाज्वल्यमान् मस्तक और मुकुट। बाकी कक्ष में घना अंधकार।)

विशु : (साष्टांग अवस्था में रुँधे गले से) हे सूर्य भगवान् ! हे भुवनभास्कर ! बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया, तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रंगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहें हैं। भगवान्, मैं यह कैसे सह सकता हूँ, तुम मेरे, सारे जगत के प्रतिपालक हो, पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हारे निर्माता हूँ। (मस्तक उठाता है। हमें उसके चेहरे का पार्श्व अंश ही दीखता है) तुम मेरे देव हो ! तुम्हें मेरा कहा करना होगा। (उठते हुए) कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे··· नहीं !! (खड़ा हो जाता है) ठीक है न मेरे भगवान् !

और विशु चुम्बक को हथौड़े के प्रहारों से तोड़कर मन्दिर को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार लेखक ने धर्मपद का चरित्रांकन भी यथार्थ की ही पृष्ठभूमि में किया है। वह सच्चे अर्थों में यथार्थ को भोगकर उसे कला में स्थान देने वाला प्रगतिशील शिल्पकार है। उत्कल के शिल्पियों पर होने वाले अत्याचारों की घोर निन्दा करने में भी वह नहीं हिचकता और महाराज नरसिंहदेव के सामने ही उनके विश्वस्त महामात्य के दुष्कृत्यों का भण्डाफोड़ करता है। महाराज उसके ऐसे धृष्ट व्यवहार के लिए उसकी भर्त्सना करते हैं। विशु भी उसे रोकता है किन्तु भुक्त यथार्थ को ईमानदारी से प्रस्तुत करने वाला धर्मपद अपनी बात कहे बिना नहीं मानता और उसके इस यथार्थवादी चरित्र की प्रभविष्णुता

यह है कि महाराज तक उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करने को वचनबद्ध हो जाते हैं। उसके चरित्र की यह विद्रोहधर्मिता एवं अन्याय के प्रति प्रतिकार की भावना निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है जिसमें एक प्रगतिशील कलाकार का समूचा व्यक्तित्व उद्‌भासित हो जाता है—

धर्मपद : (जो अब तक मूर्त्तिवत् देखता रहा है।) बहुत हुआ, बहुत हुआ दूत ! क्या हम लोग भेड़-बकरियाँ हैं जो चाहे जिसके हवाले कर दी जाएँ ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है। जिस सिंहासन को तुम आज डाँवाडोल कर रहे हो वह हमारे ही तो कंधों पर टिका है। क्या उस पर वह बैठेगा, जिसके कारण सैकड़ों घर उजड़ चुके हैं, वह जिसने कोणार्क के सौंदर्य-निर्माता शिल्पियों को ठीकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजावत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव।

नरसिंहदेव : शाबाश, धर्मपद !

सौम्य : धर्मपद, तुम्हारे शब्दों में शिल्पी की आत्मा बोलती है।

शैवालिक : पागलपने का यह प्रलाप सुनने मैं नहीं आया हूँ। मुझे शीघ्र उत्तर मिलना चाहिए।

धर्मपद : (महाराज की ओर उन्मुख होकर) देव, मुझे आज्ञा दें कि इस उद्दंड चुनौती का उचित उत्तर दे दूँ।

नरसिंहदेव : युवक, तुम्हारी वाणी ने हमें नयी आशा दी है। हम मृत्यु पसंद करेंगे, लेकिन उस नीच पामर चालुक्य के आगे घुटने न टेकेंगे।

धर्मपद : (सोल्लास) तो सुनो शैवालिक ! अपने नये स्वामी के पास यह श्रृंगारों-भरा संदेशा ले जाओ कि कलिंग-नरेश श्रीनरसिंहदेव महाराज अत्याचारी विश्वासघातियों की धमकियों की चिन्ता नहीं करते। वे आज अकेले नहीं हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है जिससे धरती थर्रा उठेगी; दीन-निर्धन प्रजा की शक्ति, जो कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरों में दुर्द्‌म सेनाओं का बल भर देगी। कोणार्क का मन्दिर आज दुर्ग का काम देगा। जाओ, हमें चुनौती स्वीकार है।

इसी प्रकार उक्त दो प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त नाटक में वर्णित अन्य पात्रों का चरित्रांकन करने में भी लेखक ने असावधानी नहीं बरती है।

(३) **चरित्र चित्रण की विधि**—नाटक में पात्रों का चरित्रांकन केवल उनके संवादों से ही संभव है। नाटककार ने पात्रों का चरित्रांकन बड़े नाटकीय ढंग से किया है। 'कोणार्क' नाटक में अधिकांश इसी परोक्ष चरित्रांकन-शैली का प्रयोग नाटककार ने किया है। किन्तु कहीं-कहीं पर प्रत्यक्ष चित्रण-विधि को भी अपनाया गया है। प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण-विधि सौम्यश्री, राजीव और विशु द्वारा धर्मपद के विषय में कहे गए संवादों में अपनाई गयी है। इस दृष्टि से उक्त तीनों पात्रों का प्रस्तुत संवाद दृष्टव्य है :

सौम्य : धर्मपद कौन ?

राजीव : एक किशोर शिल्पी । हाल ही में आया है । आयु तो अल्प ही है—शायद सोलह वर्ष भी नहीं, किन्तु बुद्धि तीक्ष्ण । आपसे मिलना भी चाहता है ।

विशु : क्यों ?

राजीव : साफ नहीं बताता । विचित्र जीव है । कभी तो मौन हो मन्दिर के कलश की ओर निर्निमेष देखता रहता है और कभी अल्प समय में ही मूर्तियाँ तैयार कर देता है । कीर्तिस्तम्भ पर गायकों के रूप उसी ने उत्कीर्ण किए हैं ।

विशु : एक सोलह वर्ष के किशोर ने ? राजीव, मैं उससे मिलूँगा ।

राजीव : कहिए तो अभी बुला लाऊँ ! तात, उसकी ओजमयी वाणी में आपको विस्मृत विद्रोह का ताप मिलेगा ।

इस प्रकार एकाध अन्य स्थलों पर राजराज चालुक्य की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन भी इसी पद्धति से किया गया है । किन्तु जहाँ तक नाटक की समग्रता का प्रश्न है, उसमें अधिकांशतः अप्रत्यक्ष चरित्रांकन विधि ही व्यवहृत हुई है । इस प्रकार की चरित्रांकन विधि अच्छी मानी जाती है क्योंकि इसमें वार्तालाप करने वालों की भावनाओं और मनःस्थिति का भी पर्याप्त प्रभाव रहता है । इससे दो पात्रों के वार्तालाप के द्वारा किसी अन्य पात्र की चारित्रिक विशेषताएँ उजागर हो जाती हैं । इस प्रकार कहीं तो पात्र अपने क्रियाकलापों द्वारा अपने चरित्र का उद्घाटन करते हैं और कहीं अपने कथनों द्वारा । एक उदाहरण इस संदर्भ में प्रस्तुत किया जा रहा है—

विशु : आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली—

चालुक्य : सूचना देता, तो तुम लोगों का भण्डाफोड़ कैसे होता ?

विशु : जी !

चालुक्य : राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्य-कोष का धन नष्ट हो रहा है । न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं न मजदूर । दस दिन हो गए, कलश तक स्थापित न हो सका ।

विशु : हम लोग बराबर उसी की चेष्टा में लगे हुए हैं ।

चालुक्य : (मुंह बनाते हुए) चेष्टा में लगे हुए हैं···यहाँ तो मैं देखता हूँ गप्पें हो रही हैं । (सहसा धर्मपद पर दृष्टि जाती है, इशारा करते हुए) और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा है ?

धर्मपद : मैं ? मैं आचार्य के सामने शिल्पियों की दुःख-गाथा कह रहा था ।

चालुक्य : शिल्पियों की दुःख-गाथा ? प्रतिहारी, इसे धक्का देकर बाहर निकालो । मुफ्तखोर कहीं का ?

धर्मपद : मैं आप ही जाता हूँ (बीच वाले दरवाजे से प्रस्थान, आहत अभिमान की मुद्रा में) ।

इस उदाहरण से जहाँ महामात्य चालुक्य के क्रूर स्वभाव, दम्भ और उसकी

कलाहीनता का परिचय मिलता है, वहाँ धर्मपद की स्पष्टवादिता, निर्भीकता एवं अन्याय के प्रति प्रतिकार-भावना का परिचय भी सहज ही मिल जाता है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटक 'कोणार्क के पात्रों के चरित्र-चित्रण को स्वाभाविक और यथार्थपरक रूप देने के लिए पात्रों का चरित्रांकन मनोवैज्ञानिक रूप में किया है। इस पद्धति के अन्तर्गत उन्होंने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को तो मुखर किया ही है, साथ ही उसके माध्यम से उनकी अन्तः-प्रकृति का मनोविश्लेषण भी किया है। इससे पात्रों की मानसिक स्थिति का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। इस पद्धति का सबसे सुन्दर परिचय विशु के चरित्रांकन में मिलता है। विशु महाराज नरसिंहदेव की आज्ञा से भगवान् सूर्य का अद्भुत-अपूर्व मन्दिर बनाता है किन्तु बारह वर्षों की उसकी कलासाधना से निर्मित कोणार्क मन्दिर में जब आततायी चालुक्य द्वारा रक्त संहार और विशु की अमूल्य निधि धर्मपद की निर्मम हत्या होती है, तब विशु पर जो प्रतिक्रिया होती है वह एक सच्चे कलाकार की प्रतिक्रिया है और लेखक ने उसके मनोमंथन को निम्नलिखित शब्दों में जैसे साकार कर दिया है—

विशु : (वही मुद्रा—कभी बैठता है, कभी घूमता है। बाहरी हलचल की उन्मत्त लहरें उसे छू नहीं पा रही हैं,) कोणार्क—मेरी निधि···कोणार्क···मेरी सृष्टि—अपावन हाथों में ? यह कैसा अभिशाप ! ओ अभागे कारीगर ! कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार ! (पुनः चुप। दूर नेपथ्य में कोलाहल बढ़ रहा है) कारीगर की हार।···एं···(उठ कर खड़ा होता है) असम्भव, कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा।

विशु : (तेजी के साथ गर्भ-ग्रह के कपाट खोलता है। सूर्यदेवता की मूर्ति कक्ष के बीच पाँच हाथ ऊपर निराधार स्थित है। जाज्वल्यमान् मस्तक और मुकुट। बाकी कक्ष में घना अंधकार, साष्टांग अवस्था में रुन्धे गले से) हे सूर्य भगवान् हे भुवन भास्कर ! बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का समय आया, तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रंगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवान् ! मैं यह कैसे सह सकता हूँ ? तुम मेरे, सारे जगत के प्रतिपालक हो : पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हारा निर्माता हूँ। (मस्तक उठाता है। हमें उसके चेहरे का पार्श्व अंश ही दीखता है।) तुम मेरे देव हो ! तुम्हें मेरा कहा करना होगा। (उठते हुए) कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे···नहीं !! (खड़ा हो जाता है।) ठीक है न मेरे भगवान् ! मूर्ति की आभा द्विगुणित जान पड़ती है। प्रकाश की एक किरण विशु के चेहरे पर भी पड़ती है। उसकी आँखें मूर्ति पर गड़ी हैं। फिर मानो प्रतिमा का आह्वान पाकर वह आगे बढ़ता है—पास रखी हुई कुदाली को हाथ में ले गर्भ-गृह में प्रवेश कर

कपाट को अन्दर से बन्द कर लेता है।××)

इस नाटक के चरित्रांकन में एक और विशेषता यह भी है कि इसमें नायक विशु की स्मृति में पूर्व घटनाओं की स्मृति जाग्रत करके उन घटनाओं द्वारा विशु की चरित्रिक दुर्बलता पर भी प्रकाश डाला गया है। विशु जब सत्रह वर्ष पूर्व के अपने प्रणय-प्रसंग का वर्णन सौम्यश्री के सम्मुख करता है तो वहां पर उसकी कायरता, कृत्रिम सामाजिक प्रतिष्ठा, हीन-भावना और भय का सुन्दर निरुपण हो जाता है। इसके लिए पूरा संवाद न देकर हम केवल यही पंक्तियाँ प्रस्तुत करेंगे।

विशु : नहीं सौम्य ! जब मुझे ज्ञान हुआ कि वह माँ बनने वाली है तो कुल और कुटुम्ब के भय ने मुझे ग्रस लिया। नदी पर बढ़ती साँझ की तरह उस भय की तन्द्रा मेरी बुद्धि पर छा गई और मैं भाग आया, सारिका और उसकी अज्ञात संतान से दूर—बहुत दूर—भुवनेश्वर में देव-मन्दिर की छाया में, कला के आंचल में अपना मुंह छिपाने।

(४) **चरित्रांकन के रूप**—नाटक में पात्रों का चरित्रच-त्रिण प्रायः दो प्रकार से होता है—एक अन्तरंग और दूसरे बहिरंग रूप से। अन्तरंग चित्रण पात्रों के कथनों द्वारा स्पष्ट और मार्मिक रूप में होता है। इसके अन्तर्गत पात्रों के मन में उठने वाले भावों, उनके संघर्ष, आन्तरिक मनोदशा और मनोविश्लेषण आदि का चित्रण रहता है। 'कोणार्क' नाटक में पात्रों के अन्तरंग चरित्रांकन में प्रायः अनेक पात्र माथुरजी की कुशल कला के द्वारा निखर उठे हैं। निम्नांकित संवाद इस दृष्टि से विशेष उल्लेख्य हैं :

सौम्य : पिता की ममता का यों तिरस्कार न करो, धर्मपद !!

धर्मपद : ममता ! (बाहर पुनः कोलाहल) वह सुनिए, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझने वाले वीरों की पुकार सुनिए ! क्या मैं उसे अनसुनी कर दूँ ? उन्हें मेरी जरूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है, शायद वह अन्तिम आहुति हो। (चलने को उद्यत)।

विशु : (आर्त्त स्वर में) तुम जा रहे हो पुत्र ?

धर्मपद : हाँ, मैं जा रहा हूँ। जिस नीच से आप भीख मांगते, मैं उसे भीख दूंगा, अपने प्राणों की भीख। तात ! मैं जानता हूँ—आप कायर नहीं हैं; पर मेरा मोह आपको दुर्बल बना रहा है। तात, जाते-जाते आपको याद दिलाऊँ कि आप पिता होने के पूर्व शिल्पी हैं, कारीगर हैं···। आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदान्धता टूट पड़ी है। सौंदर्य को सत्ता पैरों तले रौंद रही है। और 'कोणार्क'—आपका सुनहरा सपना, जिस घोंसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था—वही कोणार्क, एक पामर, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जाएगा। आतंक के हाथों में जकड़ी हुई कला सिसकेगी। वही कारीगर की सबसे बड़ी हार होगी, सबसे बड़ी हार। (प्रस्थान, कुछ देर शान्ति)।

और बहिरंग चित्रण के अन्तर्गत पात्रों की आकृति, उनकी वेशभूषा, अवस्था, नाम, भाव-भंगी, क्रिया-कलाप एवं मुद्राओं का चित्रण किया जाता है। नाटकीय कथा को सम्पूर्णतः संप्रेष्य बनाने में पात्रों के बहिरंग चरित्रांकन का भी विशेष योगदान रहता है और इसीलिए नाटक में चरित्रांकन के इस रूप को ऐकांतिक रूप से अनिवार्यतः व्यवहृत किया जाता है। 'कोणार्क' के पात्रों की वचन वक्रता एवं कथा उतनी महनीय नहीं बन पाती, यदि उसमें पात्रों के बहिरंग चित्रण को लेखक ने मंच के उपयुक्त स्थान न दिया होता। आलोच्य नाटक में सौम्यश्री द्वारा कुन्ती एवं सूर्यदेव के प्रणय-प्रसंग की जो प्रतिक्रिया विशु पर होती है, उसका मार्मिक प्रदर्शन बिना बहिरंग चित्रण के संभव नहीं था। उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

विशु : नहीं, नहीं, नहीं ! (छैनी और हथौड़ी को छोड़कर उद्भ्रान्त-सा उठ खड़ा होता है और सौम्यश्री की ओर बढ़ता है।) यह संगीतक नहीं होगा। कभी नहीं; (भावावेश में एक कोने की तरफ मुड़कर खड़ा हो जाता है। हाथों में मुंह ढकता हुआ मंद स्वर में) नहीं !

सौम्य : यह क्या विशु··· (निकट जाकर) क्या बात है ?

विशु : (वही मंद स्वर) कुछ नहीं !

सौम्य : बंधु, मुझसे छिपाओ नहीं ! इतना उत्तेजित होते मैंने तुम्हें पहले कभी नहीं देखा !

विशु : (कुछ रुककर) सौमू, इधर देखो ! (जो मूर्ति उत्कीर्ण कर रहा था, उसकी ओर संकेत करता है।)

सौम्य : (मूर्ति के निकट जाकर उसे गौर से देखता हुआ) बहुत भव्य बन पड़ी है मेरी प्रतिमा। अद्भुत है तुम्हारा कौशल !···लेकिन (और भी गौर से देखता है) लेकिन··· (अपने गले में लटके कण्ठहार को टटोलता हुआ) कहाँ मेरा यह सीधा-सादा कण्ठहार और कहाँ उस मूर्ति के कण्ठाभरण के बीच कंकण पर खुदी कामदेव की मनोहर छवि।

इस प्रकार नाटककार श्री माथुर ने 'कोणार्क' के पात्रों का चरित्रांकन अन्तरंग रूप में जितनी कुशलता से किया है, उनका बहिरंग चित्रण भी उसी सूक्ष्मता एवं कुशलता से किया है।

(५) **चरित्र-चित्रण के गुण**—नाटक में पात्र के चरित्र-चित्रण के लिए कुछ गुणों को आवश्यक बताया गया है। इससे पात्र स्वाभाविक, यथार्थ और सामान्य जीवन के अनुकूल लगते हैं। ये गुण हैं—(१) अनुकूलता, (२) स्वाभाविकता, (३) सप्राणता, (४) मौलिकता, (५) मानव-जनित संवेदना एवं (६) भाव-संप्रेषणीयता। जहाँ तक 'कोणार्क' नाटक के पात्रों का प्रश्न है, इसमें चित्रित पात्रों में से अधिकांश में ये गुण पाये जाते हैं। आगे इन सब गुणों के परिप्रेक्ष्य में 'कोणार्क' के पात्रों के चरित्रांकन पर विचार किया जा रहा है।

अनुकूलता—चरित्र-चित्रण में अनुकूलता का गुण पात्रों का कथानक से स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करता है। कथा-प्रसंगों के अनुकूल यदि पात्रों के चरित्र हैं तो इससे नाटक में रोचकता के साथ स्वाभाविकता और यथार्थता आ जाती है। कोणार्क नाटक की पात्र-योजना भी कथावस्तु के अनुकूल है। वस्तुतः नाटककार की यथार्थपरक एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली चारित्रिक-स्वातंत्र्य को प्रश्रय देती है जिससे वह कथानक की गति के अनुकूल ही चलते हैं। धर्मपद, विशु, महाराज नरसिंहदेव, महामात्य चालुक्य एवं सौम्यश्री आदि के चरित्र इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

स्वाभाविकता—पात्र-योजना का एक दूसरा मुख्य गुण स्वाभाविकता है। अनर्गल तथा कल्पना की अतिरंजना से भरपूर चरित्र-उद्भावनाएँ चरित्र-चित्रण को कमज़ोर कर देती हैं। इसके लिए यथार्थ का धरातल होना आवश्यक है। 'कोणार्क' नाटक के सभी पात्र यथार्थ हैं और उनके चरित्रों का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। निम्नलिखित संवाद अपनी स्वाभाविकता के कारण ही धर्मपद के चरित्र की विशेषताओं को स्वाभाविक रूप में निरूपित करता है—

विशु : कला तुम्हारा जीवन है, यही न ?

धर्मपद : जीवन भी है और जीवन-यापन का साधन भी।

विशु : वह सारे जीवन का प्रतिबिम्ब है। देखो, हमारे कोणार्क देवालय को आँखें भरकर देखो। यह मन्दिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियाँ, इसके स्तम्भों, इसकी उपपीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो, उनमें मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वासनाएँ, मनोरंजन और मुद्राएं चित्रित हैं। यही तो जीवन है।

धर्मपद : क्षमा करें आचार्य, शृंगार-मूर्तियों को देखते-देखते में अघा गया हूँ।

सौम्य : अभी से ? हँ हँ ! युवक, किसी रमणी के सामने यह बात न कह देना, नहीं तो तुम्हें अविवाहित रहना पड़ेगा।

विशु : (गम्भीर होकर) तो तुम उन लोगों में हो जो इन प्रणय-मूर्तियों में अश्लीलता देखते हैं, जीवन का आदि और उत्कर्ष नहीं ?

धर्मपद : जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है—जीवन का पुरुषार्थ। अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस पुरुषार्थ को भूल गयी है। जब मैं इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे की···। इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य।

सप्राणता—नाटक के चरित्रों का सप्राण होना भी अत्यावश्यक है। सप्राणता से तात्पर्य है—चरित्रों का कथानक के अनुकूल सजीव व आकर्षक होना। आदर्शों की भरमार चरित्र को बोझिल बना देती है। इसलिए पात्रों के चरित्र

में आदर्श वहीं तक हो जहाँ तक वह उनकी मोहकता में बाधक न बने। 'कोणार्क' नाटक के चरित्र अपनी स्वाभाविकता के कारण सप्राण भी हैं। इसीलिए प्रत्येक पात्र मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ता है। प्रमुख पात्रों के चरित्र तो स्पन्दनमय हैं ही, गौण पात्र भी इससे अछूते नहीं हैं। उपर्युक्त उदाहरण में चित्रित पात्रों में सप्राणता का यह गुण देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त महाराज नरसिंहदेव व रहस्याधिकारी महेन्द्र का यह संवाद भी द्रष्टव्य है—

नरसिंह : राजकवि विश्वनाथ से कहो, अपने 'साहित्यदर्पण' में कोणार्क का प्रतिबिम्ब खोजें।

महेन्द्र : सागर ही जिसका प्रतिबिम्ब है, राजकवि का 'दर्पण' उसकी झलक पा सकेगा, देव !

नरसिंह : तो राजगायक चन्द्रधर से कहो, इस अद्भुत रागिनी की प्रतिध्वनि को अपने गान में बाँधे।

महेन्द्र : जलनिधि की स्वर-लहरियाँ ही जिसकी गूँज हैं, उस रागिनी को कौन गायक बाँध सकेगा, देव ?

नरसिंह : विशु, जानते हो, यही वह गूँज थी, जो हमें बंग-प्रदेश में यवनों को पराजित करते समय रण-भेरी में सुनाई दी थी।

विशु : देव, कलाकार की रागिनी मर्मज्ञ के कर्ण-पुटों को ही खोजती है।

मौलिकता—नाटकीय पात्र तभी प्रभावशाली, स्वाभाविक, सप्राण और जीवन्त होंगे जब उनके चरित्र-चित्रण में मौलिकता हो। वे कहीं से उधार लिए गए प्रतीत न हों और जीवन के सानुकूल हों। 'कोणार्क' नाटक के चरित्र मौलिक हैं। ऐतिहासिक परिवेश से सम्बद्ध होते हुए भी उनकी रचनाविधि मौलिक है और वे इस रूप में कहीं अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुए हैं। धर्मपद, विशु, राजराज चालुक्य, राजीव अथवा सौम्यश्री आदि सभी चरित्र अपनी मौलिकता के कारण ही इतने स्वाभाविक और जीवन्त बन सके हैं। यही इन पात्रों की विशिष्टता है।

मानव-जनित संवेदना :—मानव-जनित संवेदनाओं के कारण पात्र मोहक और भावुक हो जाते हैं और इनसे नाटकीय कथा में यथार्थता भी आ जाती है। 'कोणार्क' नाटक में चित्रित पात्र अत्यन्त संवेदनशील हैं। धर्मपद की संपूर्ण विद्रोहधर्मिता और अन्ततः प्राण उत्सर्ग कर देने के पीछे यही मानव-जनित संवेदना कार्यरत है। धर्मपद का यह कथन इस तथ्य का साक्षी है :

"ममता ! (बाहर पुनः कोलाहल) वह सुनिए, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझने वाले वीरों की पुकार सुनिए। क्या मैं उसे अनसुनी कर दूं ? उन्हें मेरी जरूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है, शायद वह अन्तिम आहुति हो। (चलने को उद्यत) हाँ, मैं जा रहा हूँ। जिस नीच से आप भीख मांगते, मैं उसे भीख दूंगा, अपने प्राणों की भीख। तात ! मैं जानता हूं—आप कायर नहीं हैं, पर मेरा मोह

आपको दुर्बल बना रहा है। तात, जाते-जाते आपको याद दिलाऊँ कि आप पिता होने के पूर्व शिल्पी हैं, कारीगर हैं···आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदान्धता टूट पड़ी है। सौंदर्य को सत्ता पैरों तले रौंद रही है। और कोणार्क—आपका सुनहरा सपना जिस घोंसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था— वही कोणार्क, एक पामर, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जाएगा। आतंक के हाथों में जकड़ी हुई कला सिसकेगी। वही कारीगर की सबसे बड़ी हार होगी, सबसे बड़ी हार।"

भाव-सम्प्रेषणीयता—नाटक चूंकि पाठ्य विधा के अतिरिक्त दृश्य विधा भी है, इसलिए उसके पात्रों में यह गुण अनिवार्यतः होना चाहिए कि उनका प्रत्येक कथन एवं क्रिया-कलाप भाव-सम्प्रेषणीयता से परिपूर्ण हो। उनकी प्रत्येक भंगिमा का तुरन्त दर्शक पर प्रभाव पड़ना अपेक्षित है। 'कोणार्क' नाटक के पात्रों में यह गुण भी सर्वत्र देखा जा सकता है। नाटक का प्रत्येक पात्र अंतरंग और बहिरंग— दोनों ही दृष्टियों से भाव-सम्प्रेषण के प्रति सजग-सतर्क दिखाई देता है। इस संदर्भ में यह तथ्य भी दर्शनीय है, जब प्रतिशोधाग्नि में जलता विशु मन्दिर के चुम्बक को तोड़ने लगता है और दुष्ट चालुक्य एवं उसके सैनिक बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं। यहाँ पर पात्रों की भाव-सम्प्रेषणयीता दर्शक को तीव्रता से बदलते घटनाक्रम के प्रति सचेत और उत्सुक बनाने में पर्याप्त योगदान देती है। उदाहरण द्रष्टव्य है :

"शैवालिक : मूर्ति हिल रही है।

एक सैनिक : भगवान् के सारे अंग हिल रहे हैं।

दूसरा सैनिक : हे भगवान् ! हे भगवान् !

चालुक्य : शैवालिक ! सैनिको···डरो मत ! आओ मेरे साथ ! पकड़ लो मूर्ति को ! पकड़ो लो, पकड़ लो (विक्षिप्त-सा अन्दर घुस जाता है। शैवालिक और कुछ सैनिक भी उसके साथ जाते हैं। बाकी सैनिक इधर-उधर भाग जाते हैं। अकेला सौम्यश्री गर्भगृह के कपाट पर ठिठक कर रह जाता है। पत्थर पर फिर एक चोट।")

इसी प्रकार नाटक के आरम्भ में ही जब सौम्यश्री के संगीतक की कथा विशु सुनता है, तो उस पर कुन्ती और सूर्यदेव के प्रणय-प्रसंग, तज्जन्य वियोग एवं उपालंभ की जो प्रतिक्रिया होती है; उससे विशु की अनेक चारित्रिक विशेषताएँ इसी सम्प्रेषणीयता के कारण एकाएक दर्शक के सामने उद्घाटित हो जाती हैं और विशु की भाँति ही दर्शक भी भाव-विह्वल हो उठता है।

निष्कर्ष—'कोणार्क' नाटक में चित्रित श्री माथुरजी के चरित्र-चित्रण कौशल का उपर्युक्त अध्ययन करके कहा जा सकता है कि नाटकीय पात्रों का चरित्रांकन करने में उन्होंने जिस कौशल का परिचय दिया है, वह उनकी नाट्यकला का कीर्ति स्तम्भ है और माथुरजी की सशक्त संवाद-योजना ने इस कौशल को अत्यन्त सजीव, आकर्षक तथा मार्मिक बना दिया है।

५. विशु : सहनशील कलाकार

विशु का चरित्र 'कोणार्क' नाटक में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और नाटकीय कथा का प्रधान पात्र एवं नायक भी वही है। वह उत्कल राज्य का प्रधान शिल्पी है तथा उत्कल नरेश महाराज नरसिंहदेव का कृपा पात्र है। महाशिल्पी विशु न केवल महान् कलाकार है वरन् उसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही कला-साधना को समर्पित है। मन्दिर-निर्माण एवं तद्नुकूल मूर्तिकला में वह सिद्धहस्त है। उसकी अद्भुत शिल्पकला एवं लगन-शीलता को देखकर ही महाराज नरसिंहदेव उसे अपना प्रधान शिल्पी नियुक्त करते हैं तथा भुवनेश्वर एवं जगन्नाथपुरी के अप्रतिम मन्दिरों के निर्माण के उपरान्त उसे एक अद्भुत मन्दिर बनाने का निर्देश देते हैं, जो अपने सौंदर्य एवं स्थापत्यकला में अभूतपूर्व हो। इसी निर्णय के आधीन वह कोणार्क के विश्व-विश्रुत सूर्यमन्दिर के निर्माण का बीड़ा उठाता है। विशु यद्यपि एक भावुक कलाकार है तथा कला-धर्म को राजनीति से सर्वथा विलग मानता है और इसीलिए सहनशील भी है, तथापि अपनी ममता पर कुठाराघात हुआ देख उसका सहनशील कलाकार भी असहिष्णु बन जाता है और प्रतिशोधाग्नि में जलता विशु अपने ही हाथों द्वारा निर्मित अपूर्व सूर्यमन्दिर का केवल इसलिए विध्वंस कर देता है ताकि पापियों एवं अत्याचारियों से वह अपना प्रतिशोध ले सके। इसका वास्तविक नाम श्रीधर है किन्तु परिस्थितिवश वह अपने मूल नाम को गुप्त रखकर विशु के छद्म नाम को ओढ़ लेता है। अग्रांकित पंक्तियों में विशु की चारित्रिक विशिष्टताओं का सोदाहरण वर्णन किया जा रहा है।

सादा जीवन—विशु यद्यपि उत्कल राज्य का प्रधान शिल्पी और महाशिल्पी के पद से विभूषित है किन्तु उसका रहन-सहन अत्यन्त सादा और शालीनतापूर्ण है। नाटक के प्रारम्भ में ही नाटककार ने प्रथम दृश्य की जो पृष्ठभूमि दी है उससे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि विशु को सादा जीवन ही रुचिकर है और उसकी यह रुचि एक महान् कलाकार के उपयुक्त ही है—

"मन्दिर की यह झलक जितनी सजावटपूर्ण है उसकी अपेक्षाकृत महाशिल्पी का निवास-स्थान, यह कमरा अत्यन्त सादा और अलंकार-विहीन है। इधर-उधर कुछ आधी उत्कीर्ण मूर्तियाँ पड़ी हैं। कुछ पाषाण-खण्ड रखे हैं, जिन-पर की गई खुदाई नज़र पड़ रही है। कुछ छैनियाँ और अन्य औज़ार भी पड़े हैं। बांई खिड़की के पास एक लम्बी चौकी रखी है जिसके सिरहाने की तरफ लकड़ी की ऊँची पीठ है जैसीकि अक्सर प्राचीन सिंहासनों में हुआ करती थी। चौकी पर एक सादा कालीन बिछा है। चौकी पर भारी चिन्तित अवस्था में

बैठे हैं महाशिल्पी विशु।"

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महान् कलाकार होते हुए और सभी राजसी सुविधा उपलब्ध होते हुए भी विशु को सादा रहन-सहन पसन्द है।

सच्चा कलाकार—'कोणार्क' नाटक में विशु के जिस चरित्र को हम देखते हैं वह एक सच्चे कलाकार का चरित्र है। कला के प्रति उसका संपूर्ण समर्पण-भाव नाटक में सर्वत्र देखने को मिलता है। जगन्नाथपुरी और भुवनेश्वर के अप्रतिम मन्दिरों के निर्माण के उपरान्त कोणार्क के सूर्यमन्दिर का निर्माण करते हुए वह जिस निष्ठा से कार्यरत है और जिस हेतु चिन्तित दिखाई देता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक सच्चा कलकार है। कला की सर्वांग सुन्दरता को ही वह जीवन की संपूर्ण सार्थकता मानता है। 'कोणार्क' मन्दिर में कलश के स्थापति न हो पाने से हम उसे चिन्तित देखते हैं और उसे यह चिन्ता इसलिए है कि अपनी सच्ची कला के जिस अपरूप रूप की वह कल्पना करता था वह पूर्ण नहीं हो पा रही थी। उसकी यह चिन्ता एक सच्चे कलाकार की ही चिन्ता है। यथा—

"जानता हूँ। लेकिन मन्दिर की महती कल्पना मेरी बुद्धि के परे हो चली है। मुझे न मालूम था कि सूर्यदेव के जिस विशाल वाहन का मैं स्वप्न देखा करता था, वह सच्चा होते-होते इस पार्थिव धरातल से उठकर भगवान् भास्कर के चरण छूने के लिए उतावला हो उठेगा।"

अपनी कला के सुन्दरतम रूप सूर्यमन्दिर के सौंदर्य के विषय में वह स्वयं कहता है—

"पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। लेकिन···लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से! मुझे लगता है, जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।"

मन्दिर का कलश उससे स्थापति न हो सका और उसे यही चिन्ता है। वह अपने इस सुन्दरतम निर्माण को इस प्रकार अधूरा रहते देख व्याकुल हो उठता है और अपने मित्र नाट्याचार्य सौम्यश्री से कहता है कि यदि कोणार्क पूरा नहीं हुआ तो वह उसे नष्ट कर देगा। राजीव से जब उसे यह ज्ञात होता है कि धर्मपद नामक एक युवक शिल्पी उससे मिलना चाहता है और कि धर्मपद विचक्षण कलाकार होते हुए भी विद्रोही युवक है। कलाकार का विद्रोही होना विशु को स्वीकार नहीं है, वह तो कलाकार को कला का एक मात्र उपासक मानता है इसलिए कहता भी है—

"शिल्पी को विद्रोह की वाणी नहीं चाहिए, राजीव! मेरी कला में जीवन का प्रतिबिम्ब और उसके विरुद्ध विद्रोह दोनों सन्निहित हैं। तुम उस किशोर

को बुला लाओ। मेरी दृष्टि के स्पर्श से उसकी प्रतिभा की गंध जाग्रत होकर उसकी वाणी को मौन कर देगी। मुझे उसकी कला चाहिए।"

विशु अपनी शिल्पकला के प्रति इतना समर्पित है कि कला को ही जीवन मानता है। वह कला को अश्लील-श्लील के घेरे से परे मानता है और कहता है—"वह सारे जीवन का प्रतिविम्ब है। देखो, हमारे कोणार्क देवालय को आँखें भरकर देखो। यह मन्दिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियाँ इसके स्तम्भों, इसकी उप-पीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो, उसमें मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वासनाएँ, मनोरंजन और मुद्राएँ चित्रित हैं। यही तो जीवन है।" और उसे जब ज्ञात होता है कि युवक धर्मपद का कलश स्थापन के सम्बंध में मत उचित है तो वह एक सच्चे कलाकार की भाँति अपना प्रधान-शिल्पी का पद उसे सहर्ष सौंपने को तत्पर हो उठता है।

कर्त्तव्यपरायणता—विशु महान् शिल्पी होते हुए भी दम्भ एवं प्रदर्शन से सर्वथा दूर है। अपने कर्त्तव्य के प्रति हम उसे सर्वत्र जागरूक देखते हैं। वह चूँकि सच्चा कलाकार है और कला को धर्म समझता है इसलिए कलाकार के कर्त्तव्य के सम्मुख सारी सांसारिक सुविधाओं को तुच्छ एवं हेय मानता है। उसकी कर्त्तव्यशीलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि वह प्रधान शिल्पी होने के नाते प्राप्य समस्त सुखों और विलासों से दूर रहकर मन्दिर के प्रांगण में ही एक कुटियाँ में निरन्तर कार्यरत रहता है। उसकी यह एकान्त साधना उसकी कर्त्तव्यपरायणता की ही द्योतक है और जब राजीव उससे अन्यायी महामात्य चालुक्य के अत्याचारों का वर्णन करता है तथा सौम्यश्री भी इसकी पुष्टि करता है तब भी विशु इतना कहता है—"किसी की शक्ति बढ़े या घटे—हमें तो कोणार्क को पूरा करना है।" यहाँ तक कि वह एक कलाकर के लिए राजनीति में पड़ना अनुचित मानता है। जो कला उसका जीवन बन चुकी है, उसके प्रति नाटक में सर्वत्र हम उसे कर्त्तव्यशील देखते हैं।

राजनीति से विलगता—विशु चूँकि शिल्पकार है और कला को ही अपने जीवन का सर्वस्व स्वीकारता है इसलिए उसका कहना है कि कलाकार को राजनीतिक दावपेंचों में नहीं पड़ना चाहिए। उसकी दृष्टि में राजनीतिक कार्य राजनायकों को ही शोभा देते हैं। कलाकार को राजनीति से क्या मतलब? कोणार्क के सूर्यमन्दिर का निर्माण करते हुए उसे जिन बारह सौ शिल्पियों और हजारों मजदूरों से सहायता मिलती है उनमें से कईयों की भूमि महामात्य चालुक्य के सेवकों ने छीन ली थी। उन्हें परिश्रम का वेतन कम मिलता था और अनेक अत्याचार उन पर हो रहे थे। विशु इन सभी तथ्यों से परिचित है किन्तु कला के प्रति समर्पित होने के नाते उसने महामात्य के इन कृत्यों का कभी प्रतिकार नहीं किया। एक स्थान पर सौम्यश्री जब उससे कहता है कि राज्यसेना तो

बंग प्रदेश में लड़ रही है और इधर दण्डपाशिक सैनिकों के बल पर महामात्य की शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है तब विशु का यह कहना कि "किसी की शक्ति बढ़े या घटे—हमें तो कोणार्क पूरा करना है।" यही संकेत करता है कि विशु को कला के अतिरिक्त किसी बात में रुचि नहीं है। राजनीतिक चर्चा से वह सर्वथा विलग दिखाई देता है। इसी प्रकार जब धर्मपद उसके मर्म-स्थल पर प्रहार करते हुए पूछता है कि इस मन्दिर में वर्षों से बारह सौ से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं, इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं कि आपके महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है, कईयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ा है, और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है। इस पर विशु उपेक्षा के साथ कहता है—"तुम समझते हो कि हम लोगों को यह सब मालूम नहीं है ? लेकिन राज्य की बातों में पड़ना शिल्पियों के लिए अनुचित है।" विशु धर्मपद की आशुकला और प्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित अवश्य है किन्तु धर्मपद जब भी राजनीतिक बातें करता है वह उसे टोक देता है और उसे समझाता है कि राजनीतिक बातों से एक कलाकार को क्या मतलब है। धर्मपद जब महाराज नरसिंहदेव के समक्ष शिल्पियों की दुःख गाथा कहता है, तब भी वह टोकता है और जब धर्मपद महाराज से अनुरोध करता है कि वह महामात्य का पद किसी प्रजावत्सल व्यक्ति को सौंप दें और महाराज उसे झिड़क देते हैं तब भी विशु का यही कहना है कि "यही तो मैं इसे समझा रहा था।" शासन के मामलों में पड़ना हम शिल्पियों के लिए अनधिकार चेष्टा होगी।

गम्भीर स्वभाव—महाशिल्पी विशु एक श्रेष्ठ कलाकार होने के नाते स्वभावतः गम्भीर रहता है। कुछ तो प्रेमजन्य असफलताओं और कुछ अपनी लगनशीलता के कारण वह उपहासास्पद स्थितियों से सदा विरक्त रहता है और किसी भी बात को गम्भीरता से लेता है। जब वह शिल्प सम्बन्धी गम्भीर कठिनाई में पड़ जाता था तो निराश नहीं होता, न ही अपना धैर्य खो बैठता वरन् उस कठिनाई पर गंभीर चिन्तन करता रहता था और उस सूत्र की खोज में रहता जिससे कठिनाई हल हो सके। नाटक के प्रारम्भ में ही कलश स्थापित न हो सकने की समस्या से हम उसे गम्भीरतापूर्वक चिन्तनग्रस्त देखते हैं। कालान्तर में धर्मपद के प्रखर व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगता है कि वह कौन है और जब धर्मपद की घायलावस्था में उसे ज्ञात होता है कि वह उसी का पुत्र है तब तो उसकी गम्भीरता चरम पर जा पहुँचती है।

महान् व्यक्तित्व—विशु का व्यक्तित्व एक श्रेष्ठ कलाकार की भाँति महान् एवं आकर्षक है। उसके संपर्क में जितने भी व्यक्ति आते हैं, उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते। उसके सहयोगी शिल्पीगण एवं राज्य-कर्मचारी सभी उसके व्यक्तित्व की महनीयता से प्रभावित दिखाई देते हैं और

उसके सादगीपूर्ण चरित्र, लग्नशीलता और उदारता एवं सौजन्य से श्रद्धाभिभूत हो उठते हैं। महाराज नरसिंहदेव उसकी महानता को परख कर ही उत्कल में श्रेष्ठ मन्दिरों के निर्माण का दायित्व उसे सौंपते हैं और राज्य के प्रधान शिल्पी के पद से विभूषित करके अनुपम सूर्यमन्दिर के निर्माण का कार्य उसे सौंपते हैं।

प्रेम सम्बन्धी भूल—विशु चूंकि कलाकार है इसलिए एक कलाकार का हृदय भी उसके पास है। अपने यौवन काल में वह मन्दिर निर्माण हेतु शबर अटोविका के निकट गया था। वहाँ एक सुन्दरी शबर कन्या सारिका से उसका प्रेम हो गया किन्तु ज्यों ही उसे ज्ञात होता है कि सारिका गर्भवती है, वह प्रतिष्ठा एवं अपने सम्मान की रक्षा हेतु वहाँ से भाग खड़ा होता है। सौम्यश्री के सम्मुख वह अपनी इस कायरता और असफलता का वर्णन इन शब्दों में करता है—

"जब मुझे ज्ञान हुआ कि वह माँ बनने वाली है तो कुल और कुटुम्ब के भय ने मुझे ग्रस लिया। नदी पर बढ़ती साँझ की तरह उस भय की तन्द्रा मेरी बुद्धि पर छा गयी। और मैं भाग आया। सारिका और उसकी संतान से दूर बहुत दूर—भुवनेश्वर में देव मन्दिर की छाया में—कला के आंचल में अपना मुँह छिपाने ! सौमू ! भव्य मन्दिरों को बनाने वाले मेरे ये हाथ सारिका और उसकी संतान के लिए एक झोंपड़ी भी न बना सके।"

अपने असफल प्रेम को भुला देने के लिए ही विशु स्थापत्य कला में अपने पाप को तिरोहित कर देता है और कहा जाए तो उसकी भूल उसे महान् शिल्पी बनाने में सहायक हुई।

भावुक कलाकार—विशु स्वभावतः भावुक शिल्पी है। नाटक में भावावेश के क्षण में विशु के चरित्र की अत्यन्त उत्कृष्ट झलकियाँ दिखाई देती हैं। चालुक्य द्वारा अपशब्दों का प्रयोग करने पर वह तुरन्त कह बैठता है कि "महामंत्री, आपके शब्द कटु हैं।" और जब चालुक्य कलश स्थापित न होने पर समस्त शिल्पियों के हाथ काट देने की घोषणा करता है तो वह असहायावस्था में कह उठता है, 'शिल्पियों के हाथ काट लिए जाएंगे ?" चालुक्य धर्मपद का अपमान करता और बाद में विशु से कहता है, 'युवक, वह तुम्हारा अपमान नहीं, मेरी कारण थी।" अपने पुत्र की मृत्यु और महाराज नरसिंहदेव की सुरक्षा के लिए भावावेश में मन्दिर का ध्वंस करने को समुद्यत हो जाता है। कलाकार की ज प्राप्त समग्र भावुकता के दर्शन हमें उसके चरित्र में होते हैं।

स्नेही पिता—जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि विशु यौवनकाल में सम्बन्धी भूल कर बैठता है और कालान्तर में पछताता रहता है। सौम्यश्री सम्मुख वह अपने अपराध को स्वीकारते हुए सारिका एवं उसकी संतान के चिन्ता व्यक्त करता है। धर्मपद को देखकर उसके हृदय में कहीं शंका ी है और बाद में युद्ध में जब धर्मपद घायल होकर भूमि पर गिर पड़ता ब उसके गले से छिटके कण्ठहार को देखकर उसे विश्वास हो जाता है कि

धर्मपद उसका ही पुत्र है। वह सौम्यश्री से कहता है कि आज उसे कितना हर्ष हो रहा है क्योंकि आज वह अपनी वर्षों की खोई निधि पा रहा है किन्तु उसके स्नेही हृदय में पुत्र के प्रति जितना प्रेम है उतनी आशंका भी कि "कैसे उसे बताऊँगा, मुझे तो वह जानता ही नहीं, पर जान लेने पर क्या सोचेगा वह ?—क्या वह मेरा मुख भी देखना चाहेगा ?" और जब धर्मपद उसके सम्मुख आता है तो वह नहीं रह पाता। उसके हृदय की ममता बाँध तोड़कर आंसुओं के रूप में वह निकलती है—"धर्म, मेरे बच्चे, मेरे बेटे !···वह अभागा श्रीधर मैं ही हूँ।···विशु तो मेरा छद्म नाम है, जो मैंने शबर अटीविका से भाग आने पर रख लिया था। मैं ही वह श्रीधर हूँ जिसके कारण तुम्हारी माँ को इतने कष्ट उठाने पड़े। मैं ही वह कठोर, पापी, निर्दय तुम्हारा पिता हूँ।" विशु की यह पुत्रगत ममता निम्नलिखित संवाद में उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती है देखिए—"तुम शिल्पी विशु के पुत्र हो, धर्म ! कोणार्क और किसी के स्पर्श से कैसे जग सकता था ? जैसे मरुस्थल में कहीं निर्झरिणी सहसा गायब हो जाने पर भी अन्यत्र वह निकलती है, वैसे ही मेरी भटकी हुई प्रतिभा तुम्हारे मन में विकसित उठी धर्म ! सैकड़ों, हज़ारों वर्षों तक कोणार्क के उन्नत शिखर को देखकर लोग कहेंगे कि यह विशु और उसके बेटे की कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है। मेरे जैसा भाग्यशाली पिता आज उत्कल में और कौन है ?"

प्रतिशोध भावना—विशु यद्यपि एक सहनशील कलाकार है किन्तु जब विश्वासघाती चालुक्य द्वारा कोणार्क पर आक्रमण कर दिया गया तब जो संघर्ष छिड़ा उसमें अपने प्राणप्रिय पुत्र की निर्मम हत्या होते देख उसकी प्रतिशोध भावना जाग्रत हो उठती है। वह स्वनिर्मित सूर्यमन्दिर को अपने ही हाथों द्वारा ध्वस्त कर देता है और अन्यायियों से अपने पुत्र की हत्या का प्रतिशोध लेता है।

निष्कर्ष—समग्रतः यही कहा जा सकता है कि 'कोणार्क' नाटक में चित्रित विशु का चरित्र एक महान् कलाकार का चरित्र है जिसमें सहनशीलता, कला-मर्मज्ञता, स्नेह, प्रेम एवं अन्याय के प्रतिकार की भावना के साथ ही परिस्थितिजन्य प्रतिशोध-भावना भी उच्च मानवीय धरातल पर चित्रित हुई है। विशु नाटक का नायक है और अपने प्रभविष्णु चरित्र से समस्त नाटकीय कार्य को प्रभावित करता है।

६. धर्मपद : विद्रोही कलाकार

धर्मपद यद्यपि 'कोणार्क' नाटक का सहनायक है तथापि अपनी चारित्रिक प्रभविष्णुता, उद्दाम आवेग एवं विलक्षण कलाधर्मिता के कारण वह प्रायः समस्त नाटकीय पात्रों पर छाया रहता है। महाकवि सुमित्रानन्दन पंत ने इसीलिए उसके चरित्र के विषय में लिखा है कि "धर्मपद सोलह वर्ष का एक ऐसा कलाकार युवक है जिसने कला का मर्म उत्तराधिकार में पाया है। वह उत्कल के महाशिल्पी विशु का अनधिकृत पुत्र है। अनधिकृत इसलिए क्योंकि विशु ने धर्मपद की माता से विधिवत् विवाह नहीं किया था और न ही सोलह वर्ष तक उसे यही ज्ञात था कि उसका कोई पुत्र भी है।" धर्मपद नाटकीय कथा का भाग बनकर उस समय मंच पर अवतीर्ण होता है जब विशु सूर्यदेव की मूर्ति के कलश को स्थापित करने में असमर्थ हो चुका था और जिससे समस्त बारह सौ शिल्पी चिन्ताग्रस्त थे। धर्मपद ने न केवल कलश को स्थापित कर दिया वरन् शिल्पियों की प्राण-रक्षा करने का भी प्रयत्न किया, यद्यपि अन्ततः चालुक्य के विश्वासघात के कारण सभी को मृत्यु की गोद में जाना ही पड़ा। धर्मपद की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन हम आगे कर रहे हैं—

जन्मजात प्रतिभा—धर्मपद के प्रखर व्यक्तित्व में जन्मजात प्रतिभा के दर्शन होते हैं और उसकी यह प्रतिभा न केवल उससे सम्बद्ध पात्रों वरन् प्रेक्षकों को भी विस्मय में डाल देती है। उसका यह कहना कि उसने किसी गुरु से स्थापत्य कला की दीक्षा नहीं ली, और भी उसके कलाकार की गरिमा को बढ़ा देता है। वह उत्कल के महाशिल्पी का प्रतिभा-सम्पन्न पुत्र है और आशु शिल्पी है। जब विशु को राजीव द्वारा यह ज्ञात होता है कि कीर्तिस्तम्भ पर गायकों के रूप उसीने उत्कीर्ण किए हैं तो विशु आश्चर्यचकित हो जाता है और धर्मपद से तुरन्त मिलना चाहता है। धर्मपद विशु को न केवल कला का मर्म बतलाता है वरन् महाशिल्पी को उस भीषण समस्या से छुटकारा दिलाता है जिसके कारण बारह सौ शिल्पियों के हाथ काटे जाने थे। उसे जब यह ज्ञात होता है कि शिखर का कलश स्थापित नहीं हो पा रहा है तो वह तुरन्त ऐसी युक्ति बतलाता है कि कलश बड़ी सहजता से स्थापित हो जाता है। निम्नलिखित संवाद में धर्मपद की इस चारित्रिक विशेषता का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, देखिए—

राजीव : चाहे जैसे नाप-जोख करके हम विमान के ऊपर शिलाएँ रखते, ! सब नीचे आ पड़ती थीं। शिल्पीगण निराश हो चले थे और महाशिल्पी विशु अपने स्वप्न को अधूरा देख व्याकुल थे। चारों ओर अन्धकार था, चारों ओर उदासी वे

विशु : ऐसे समय में पावस की वातास की भाँति तृषित पृष्ठभूमि में यह युवक आ पहुँचा, इसकी अद्वितीय सूझ मेरे लिए आकाशवाणी बनी, खोये राही का पथ-प्रदर्शन हुआ। और रात-दिन में ही इसके अनवरत परिश्रम और प्रतिभा ने कोणार्क के शिखर को पूरा कर दिया।

नरसिंहदेव : हम चकित हैं (धर्मपद से) युवक ! जब महाशिल्पी विशु तुम्हारा लोहा मानते हैं, तो हम अविश्वास कैसे करें ? इस अल्प वय में ही जो इतना अद्वितीय प्रतिभाशाली हो, ऐसे शिल्पी का हम सहर्ष स्वागत करते हैं।

धर्मपद की इसी प्रतिभा-सम्पन्नता से प्रभावित होकर प्रधान शिल्पी का पद विशु उसे देने को तत्पर हो उठता है। वास्तव में धर्मपद एक योग्य तथा महान् शिल्प का योग्य और महान् पुत्र है।

प्रखर विद्रोहशीलता—धर्मपद के चरित्र में प्रारम्भ में से ही एक अदम्य विद्रोह मुखर होता दिखाई पड़ता है। प्रारम्भ में उसका कलागत विद्रोह अश्लील कामजनक मूर्त्तियों एवं शिल्पियों के प्रति फूटता है। विशु उससे कोणार्क की युगल शृंगारिक मूर्त्तियों की प्रशंसा करता है और उसकी विद्रोही वाणी इस प्रकार फूट पड़ती है—"जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है—जीवन का पुरुषार्थ। अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस पुरुषार्थ को भूल गई है। जब मैं इन मूर्त्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे की। ···इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य !"

और पुनः वह विशु को स्मरण दिलाता है कि बारह सौ शिल्पियों का वह प्रधान शिल्पी है किन्तु उनकी पीड़ा और छटपटाहट से सर्वथा अनिभिज्ञ। वह स्पष्ट कहता है—"इस मन्दिर में बरसों से १२०० से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं कि आपके महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है; कईयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ा है, और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है।·····मगर यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हों, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्त्तियाँ ही बनाता रहे। अगर मुझे महाशिल्पी के अधिकार मिले होते तो—"

धर्मपद की यह विद्रोहशीलता उस समय अपने चरम पर दिखाई पड़ती है जब महामात्य चालुक्य कोणार्क मन्दिर को तीन ओर से घेर लेता है और महाराज नरसिंहदेव के पास आत्मसमर्पण का संदेश शैवालिक के हाथ भिजवाता है। परिस्थिति की जटिलता से महाराज के साथ सभी प्रायः आतंकित और निराश हो जाते हैं किन्तु विद्रोही धर्मपद उनमें जैसे प्राण फूंक देता है। वह शैवालिक

से चुनौती पूर्ण स्वर में कहता भी है—

"तो सुनो शैवालिक ! अपने नये स्वामी के पास यह अंगारों-भरा संदेश ले जाओ कि कलिंग-नरेश श्री नरसिंहदेव महाराज, अत्याचारी विश्वासघातियों की धमकियों की चिन्ता नहीं करते। वे आज अकेले नहीं हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है जिससे धरती थर्रा उठेगी; दीन-निर्धन प्रजा की शक्ति, जो कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरों में दुर्दम सेनाओं का बल भर देगी। कोणार्क का मंदिर आज दुर्ग का काम देगा। जाओ, हमें चुनौती स्वीकार है।"

स्पष्ट वक्ता—धर्मपद के चरित्र में युवाविद्रोही कलाकार का सर्वांग सामंजस्य उपलब्ध होता है। विद्रोही होने के कारण वह स्वभावतः स्पष्टवादी है। वह यह भी नहीं सोचता कि वह महाशिल्पी विशु से बात कर रहा है, या अन्यायी चालुक्य के सामने है। यहाँ तक कि वह महाराज नरसिंहदेव तक के सामने अपनी हार्दिक पीड़ा और चालुक्य कृत अन्यायों का खुला विरोध कर जाता है। निम्नांकित उदाहरण में धर्मपद की स्पष्टवादिता का स्पष्ट परिचय मिल जाता है—

नरसिंहदेव : चालुक्य ने तुमसे कहा ? ···ओह··· (कुछ सोचकर फिर किंचित् हंसते हुए) उन्होंने शायद तुम्हें यूँ ही धमकी दी होगी। उनका अभिप्राय तुम लोग नहीं समझे।

धर्मपद : अभिप्राय को समझना उन लोगों के लिए कठिन नहीं था, जिन के जीवन पर काले बादलों की छाया की तरह महामंत्री का भय फैला हुआ है।

नरसिंहदेव : कौन हैं वे ?

धर्मपद : वे ही जो उच्च सम्मिलित स्वर में कुछ ही देर हुए आपकी जय-जयकार कर रहे थे, देव—वे अपने को मिटाकर सौंदर्यमयी दुनिया बनाने वाले शिल्पी और मूर्त्तिकार।

नरसिंहदेव: हमें तो उनके स्वर में बहुत उल्लास जान पड़ा।

धर्मपद : देव, झुरमुट की ओट में चहकने वाले पक्षी का स्वर सर्वथा हर्ष-गान ही नहीं होता। आपको क्या मालूम कि इस जय-जयकार के पीछे हा-हाकार चुपचाप सिसक रहा था।

नरसिंहदेव : युवक, तुम्हारी बातें हमें नयी और अपरिचित-सी जान पड़ती हैं।

धर्मपद : देव, ये उनकी बातें हैं जो बोल नहीं सकते।

महेन्द्र : युवक, महाराज के सम्मुख शिष्टता से बातें करो।

धर्मपद : मेरी धृष्टता क्षमा करें देव ! मैं साधारण शिल्पी, राज्यदरबार के नियमों से अपरिचित हूँ। कोणार्क पूरा करते समय मैंने आचार्य विशु से यही पुरस्कार मांगा था कि वे त्रस्त शिल्पी की व्यथाएँ उत्कल-नरेश के सामने मुझे रखने दें।

अन्याय का विरोधी—धर्मपद एक सच्चा कलाकार होने के नाते मानवता-

वादी दृष्टिकोण से परिपूर्ण है। महामात्य चालुक्य द्वारा निर्धनजनों पर हो रहे अत्याचारों से वह क्षुब्ध हो उठता है और यत्रतत्र अपने विक्षोभ को ध्वनित भी करता है किन्तु जब अन्ततः अन्यायी चालुक्य महाराज के साथ विश्वासघात करके उन्हें राजच्युत कर देने का षड्यन्त्र रचता है तो धर्मपद युद्ध की चुनौती स्वीकार कर लेता है। युद्ध में वह घायल होता है किन्तु रात्रि में जब सौम्यश्री से उसे यह समाचार मिलता है कि शत्रुपक्ष प्राचीर तोड़कर मन्दिर के अन्दर घुसा चला आ रहा है तो वह घायल अवस्था में ही अन्यायी का प्रतिरोध करने पुनः युद्ध हेतु तत्पर हो उठता है। विशु एवं सौम्यश्री उसे रोकने का प्रयास करते हैं तो वह कहता है—

"मुझे रोकने की चेष्टा न कीजिए, आर्य ! मुझे संध्या की वे ही किरणें बुला रही हैं। लेकिन सुनिए ! एक बार अधिकार कर लेने पर चालुक्य की शक्ति को कोई नहीं रोक सकता। महाराज नरसिंहदेव की चेष्टाएँ विफल हो जाएंगी। सवेरे ही चालुक्य पुरी के लिए कूच कर देगा और फिर उस अत्याचारी के आगे कोई नहीं ठहर सकेगा, कोई नहीं। (कोने में रखे हुए भाले को उठाता है।)

धर्मपद को इस प्रकार जाता देखकर विशु सौम्यश्री से कहता है कि वह धर्मपद को रोके। वह चालुक्य से अपने बेटे के प्राणों की भीख मांगने की बात कहता है। सौम्यश्री धर्मपद से कहता है कि उसे अपने पिता की ममता का इस प्रकार तिरस्कार नहीं करना चाहिए। इस पर अन्याय का विरोधी धर्मपद अपने अपमान की बात कहता हुआ प्रचण्ड स्वर में कहता है—

"ममता ! (बाहर पुनः कोलाहल) वह सुनिए, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझने वाले वीरों की पुकार सुनिए ! क्या मैं उसे अनसुनी कर दूं ? उन्हें मेरी जरूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है, शायद वह अन्तिम आहुति हो। × × × जिस नीच से आप भीख माँगते, मैं उसे भीख दूंगा, अपने प्राणों की भीख। तात, मैं जानता हूँ—आप कायर नहीं हैं; पर मेरा मोह आपको दुर्बल बना रहा है। तात, जाते-जाते आपको याद दिलाऊँ कि आप पिता होने पूर्व शिल्पी हैं, कारीगर हैं···आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदान्धता टूट पड़ी है। सौंदर्य को सत्ता पैरों तले रौंद रही है। और कोणार्क—आपका सुनहरा सपना, जिस घोंसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था—वही कोणार्क, एक पामर, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जाएगा। आतंक के हाथों में जकड़ी हुई कला सिसकेगी। वही कारीगर की सबसे बड़ी हार होगी, सबसे बड़ी हार !"

कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति—धर्मपद विद्रोही युवा कलाकार होते हुए भी अपने कर्त्तव्य के प्रति पूर्णतया जागरूक है। विश्वासघाती चालुक्य द्वारा मन्दिर में घिर जाने पर जब महाराज नरसिंहदेव सहित सभी व्यक्ति निराश, भय-विह्वल

एवं आतंकित हो उठते हैं और वे प्रायः किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं; तब धर्मपद न केवल अपने कर्त्तव्य का मार्ग निर्धारण करता है वरन् सभी निराश लोगों में उत्साह जाग्रत कर देता है। धर्मपद का यह कथन न केवल उसकी कर्त्तव्य-निष्ठा का परिचय देती है वरन् नाटकीय कथा को संघर्षमय मोड़ प्रदान करने में भी कितनी सहायक हुई है, यह सर्वविदित है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"बहुत हुआ, बहुत हुआ दूत ! क्या हम लोग भेड़-बकरियाँ हैं जो चाहे जिसके हवाले कर दी जाएं ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है। जिस सिंहासन को तुम आज डांवाडोल कर रहे हो, वह हमारे ही तो कंधों पर टिका है। क्या उस पर वह बैठेगा, जिसके कारण सैकड़ों घर उजड़ चुके हैं, वह जिसने कोणार्क के सौंदर्य-निर्माता शिल्पियों को ठीकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजा-वत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव।"

और अपनी इस कर्त्तव्यनिष्ठा का पालन वह अपने प्राणों के रहते तक करता है। रात्रि में जब शत्रु के लोग युद्धविराम का उल्लंघन कर प्राचीर तोड़कर मन्दिर के अन्दर प्रवेश करने लगते हैं तो वह अपने पिता के अश्रुपूरित अनुरोध को भी ठुकरा देता है और घायल अवस्था में ही भाला लेकर शत्रुपक्ष के मध्य जूझ पड़ता है तथा अपनी आहुति दे देता है।

सच्चा वीर—धर्मपद किशोर वय का होते हुए भी एक सच्चा वीर है और हताशा के वातावरण में लोगों में युद्धोत्साह का संचार करता है। उसने जीवन में सदैव प्रतारणाएं, संघर्ष एवं पीड़ा ही भोगी किन्तु एक सच्चे वीर की भाँति वह निरन्तर संघर्ष करता रहा। कोणार्क आने पर यद्यपि उसे अपना पिता मिल गया किन्तु आसन्न संकट की घड़ी में वह सच्चे वीर की तरह ममता को भी ठुकरा देता है। उसके वीरतापूर्ण चरित्र की कुछ झलकियाँ निम्नांकित संवादों में द्रष्टव्य हैं—

धर्मपद . क्यों नहीं महाराज ! कोणार्क के प्राचीरों के पाषाण सुदृढ़ हैं और उनसे भी अधिक दृढ़ हैं शिल्पियों की भुजाएँ, जो पाषाण में प्राण फूंकती हैं।

'हमारे अस्त्र हैं—कुदाली, दंड, हथौड़े और पत्थर। मन्दिर के प्राचीरों से विशाल पाषाणों को अकस्मात् शत्रु के ऊपर गिराया जा सकता है। जब तक प्राचीर हमारे हाथों में है, शत्रु पास नहीं फटकने पायेगा।'

'नरसिंह : धर्मपद आचार्य विशु ने तुम्हें आज महाशिल्पी का पद दिया। हम तुम्हें कोणार्क का दुर्गपति बनाते हैं।'

'नहीं, हम तुम्हारे अदम्य साहस और उससे भी अधिक संगठन-दक्षता देखकर विस्मित हैं। तुमने यवन-विजेता उत्कल-नरेश को अपने वश कर लिया।'

प्रभावशाली व्यक्तित्व—धर्मपद जब नाटकीय कथा में प्रवेश करता है, तभी से पाठक-प्रेक्षक उसके व्यक्तित्व की प्रभावशालिता से मोहासिक्त हो जाता है। उसका आगमन ही ऐसी घड़ी में होता है जब विशु कलाश स्थापित न कर

सकने के कारण चिन्ताग्रस्त था। और धर्मपद बड़ी सहजता से उसे स्थापित कर देने का आश्वासन देता है। इससे पूर्व जब वह सच्चे कलाकार और उसकी कला के मर्म को व्याख्यायित करता है उस समय भी उसकी यथार्थपरक ओजमयी वाणी सबका मन मोह लेती है। धीरे-धीरे नाटक में उसका प्रखर व्यक्तित्व इस प्रकार प्रभविष्णु बन जाता है कि समस्त नाटकीय पात्रों का दिशा-निर्देशक ही वही बन जाता है। वह घटनाक्रम को जब जिधर चाहता है, उधर मोड़ देने की क्षमता रखता है। उसकी चारित्रिक प्रभविष्णुता से प्रभावित होकर विशु उसे प्रधान शिल्पी का पद दे देता है और कालान्तर में उसकी ओजमयी वाणी अद्भुत साहस, वाक्पटुता और संगठन-दक्षता से प्रभावित होकर महाराज नरसिंहदेव उसे कोणार्क का न केवल दुर्गपति घोषित करते हैं वरन् उसकी हर आज्ञा को सेवक की भाँति स्वीकारते चले जाते हैं। नाटक का कोई भी ऐसा पात्र नहीं है जो धर्मपद के व्यक्तित्व से प्रभावित नहीं होता।

निष्कर्ष—धर्मपद के चरित्र का संपूर्ण विवेचन करने के उपरान्त हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यद्यपि वह नाटक का सहनायक है, किन्तु अपनी चारित्रिक दृढ़ता, प्रखर विद्रोहशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा, अन्याय का प्रतिकार एवं वीरत्व की भावना तथा कलागत प्रतिभा-सम्पन्नता के कारण सभी पात्रों को अपने हाथ की कठपुतली बना लेता है। अपनी तर्क-निपुणता से तथा अदम्य साहस से वह सबकी सहानुभूति प्राप्त करने में सफल हो जाता है। इसीलिए सभी पात्र बार-बार उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते।

७. नरसिंहदेव : कला-मर्मज्ञ

महाराज नरसिंहदेव यद्यपि 'कोणार्क' नाटक में एक सहायक पात्र के रूप में चित्रित हुए हैं तथापि उनकी चारित्रिक प्रभावकता नाटक के प्रारंभ लेकर अंत तक विद्यमान है। उनकी प्रकट अनुपस्थिति में भी उनका व्यक्तित्व कथानक में झांकता दिखाई देता है। महाराज नरसिंहदेव उत्कल राज्य के गंगवंशीय पराक्रमी नरेश हैं और ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इतिहास के अनुसार इनका शासन-काल ई० सन् १२३८ से १२६४ तक माना जाता है और कुछ जागीरों के लेख-पत्रों में स्पष्टतः कहा गया है कि नरसिंहदेव ने ही कोणार्क का निर्माण कराया। प्रस्तुत नाटक में भी उन्हें भुवनेश्वर एवं जगन्नाथपुरी के मन्दिरों का निर्माण कराने वाला बताया गया है और स्पष्ट कहा गया गया है कि उन्हीं के निर्देश पर कोणार्क में अद्भुत सौंदयशाली सूर्यदेव के मन्दिर का निर्माण महाशिल्पी विशु कर रहा था। नाटक में वर्णित नरसिंहदेव कला-मर्मज्ञ, उदार, पराक्रमी

एवं परदुःख कातरता से परिपूर्ण व्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं। उनकी चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन हम अग्रांकित उपशीर्षकों के अन्तर्गत कर रहे हैं :

कला-मर्मज्ञ—जैसाकि नाटक के प्रारम्भ में ही ज्ञात हो जाता है कि कोणार्क के अप्रतिम सूर्यमन्दिर का निर्माण नरसिंहदेव के आदेश पर ही हो रहा था। उनकी कला-मर्मज्ञता का परिचय इससे भी मिल जाता है कि भुवनेश्वर एवं जगन्नाथपुरी के अनेक मन्दिरों के निर्माण के उपरान्त वे विशु से कोई ऐसा मन्दिर बनवाना चाहते हैं जो विश्व में अपने ढंग का एकमात्र और अनूठा मन्दिर हो। उन्हें कला से ही प्यार नहीं है वरन् उस कला के स्रष्टा शिल्पियों के प्रति भी उनके हृदय में अपार स्नेह है। उनकी तीक्ष्ण कला-दृष्टि विशु जैसे महान् शिल्पी को खोज लेती है और इसीलिए उसीको सूर्यमन्दिर के निर्माण का दायित्व वे सौंप देते हैं। उनकी कला-प्रियता का एक उदाहरण वह भी है जब वह बंग प्रदेश में यवनों को पराजित करने के उपरान्त समूची सेना को वहीं छोड़ कर अकेले कोणार्क के मन्दिर को देखने भागे-भागे चले आते हैं। निम्नलिखित संवाद उनकी कलाप्रियता एवं कला-मर्मज्ञता का सुन्दर उदाहरण है, देखिए—

"**विशु** : कोणार्क के इस कोने में कलिंग-नरेश का स्वागत है।

नरसिंहदेव : इस स्वागत के लिए हम बहुत दिनों से लालायित थे। विशु, कोणार्क को पूरा करके तुमने हमारे और उत्कल के गौरव को बढ़ाया है।

विशु : वही गौरव तो पत्थर के शृंगार में निखरा है महाराज !

नरसिंहदेव : पत्थर ! (मन्दिर पर दृष्टि) यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है, मानो तुमने किसी जौहरी के गढ़े अलंकारों को पाषाण बना दिया हो। और दूर से इस विमान और जगमोहन के शिखर हिमाचल की चोटियों की स्पर्द्धा करते जान पड़ते···! महेन्द्र !

महेन्द्र : आज्ञा, देव !

नरसिंहदेव : राजकवि विश्वनाथ से कहो, अपने 'साहित्य दर्पण' में कोणार्क का प्रतिबिम्ब खोजें।

महेन्द्र : सागर ही जिसका प्रतिबिम्ब है, राजकवि का 'दर्पण' उसकी झलक पा सकेगा, देव।

नरसिंहदेव : तो राज गायक चन्द्रधर से कहो, इस अद्भुत रागिनी की प्रतिध्वनि को अपने गान में बांधें।

महेन्द्र : जल निधि की स्वर-लहरियाँ ही जिसकी गूँज है उस रागिनी को कौन गायक बांध सकेगा, देव !

नरसिंहदेव : विशु, जानते हो, यही वह गूँज थी, जो हमें बंग-प्रदेश में यवनों को पराजित करते समय रणभेरी में सुनाई दी थी।

विशु : देव, कलाकार की रागिनी मर्मज्ञ के कर्ण-पुटों को ही खोजती है।

नरसिंह : विजय के तुरन्त बाद हम अपनी सारी सेना को बंग-प्रदेश में ही

छोड़कर राजधानी को लौट पड़े। कोणार्क का सम्मोहन व्याध की वंशी था और हम थे विवश मृग।

इतना ही नहीं, उनकी कला-प्रियता उनकी उस विह्वलता में और भी अधिक दर्शनीय हो उठी है जब वह विशु से कहते हैं—'विह्वल हम हो रहे हैं विशु! यहाँ से तीन कोस पर मन्दिर की गगन-चुम्बी पताका को देखकर हम बालकों की भाँति अधीर हो उठे। उसी समय महामंत्री बोले कि उनके रथ की धुरी टूट गयी है। वे "पीछे ठहर गए, किन्तु हममें इतना धैर्य कहाँ जो रुक सकते।"

उदार व्यक्ति—नरसिंहदेव महाप्रतापी नरेश होते हुए भी इतने उदार हैं कि विशु का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि "महाराज नरसिंहदेव की क्रोधाग्नि ? उसे तो करुणा की फुहारें क्षणभर में शान्त कर देती हैं।" धर्मपद से जब उन्हें ज्ञात होता है कि महामात्य चालुक्य के निर्देश पर शिल्पियों एवं मजदूरों पर विविध प्रकार के अत्याचार हो रहे हैं तो वह जहाँ इसे चालुक्य की भूल मानते हैं, वहाँ द्रवीभूत भी हो उठते हैं। वे आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं—"शिल्पी और त्रस्त! सौंदर्य के प्रणेता को क्या पीड़ा है ? हम उसका निवारण करेंगे।" इनकी उदारता की चर्चा करते हुए विशु भी एक स्थान पर कहता है—"मैं कहता था न कि सौम्यश्री, महाराज शिल्पी के प्रति इतने हृदयहीन हो ही नहीं सकते। धर्मपद द्वारा चालुक्य की निर्दयता एवं अत्याचारों पर पहले तो वह विश्वास ही नहीं करते किन्तु जब उन्हें सारी स्थिति का सही ज्ञान हो जाता है तो निर्धन-वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—"जान पड़ता है वंग-प्रदेश में हमारी लम्बी अनुपस्थिति के दिनों में राजराज चालुक्य बिना सोचे-समझे शिल्पियों से विरक्त हो गए। हम उनका भ्रम दूर करेंगे। राजधानी लौटने पर शिल्पियों के कुटुम्बियों को उनकी जमीन-जायदाद लौटाने की आज्ञा दी जाएगी। सामन्तों के लिए दूसरा प्रबंध किया जाएगा। हम नहीं चाहते कि इस सौंदर्य-सदन पर किसी भी कालिमा की छाया रहे। निर्धन-प्रजा को सुखी बनाने में ही हमारी कीर्ति है।"

गुण-ग्राहकता—कला-मर्मज्ञ एवं उदार होने के साथ ही महाराज गुणग्राहक भी हैं। विशु की लगन एवं उसके द्वारा निर्मित सूर्यमन्दिर को देखकर वह इतने प्रसन्न हो उठते हैं कि तुरन्त गले की रत्न-माला निकालकर विशु को उपहार स्वरूप देने लगते हैं किन्तु तभी विशु बताता है कि इस उपहार का वास्तविक अधिकारी युवक धर्मपद है क्योंकि उसी की सूझ-बूझ और कौशल से शिखर पर आमल स्थापित हो सका। तब महाराज धर्मपद की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—"हम चकित हैं युवक! जब महाशिल्पी विशु तुम्हारा लोहा मानते हैं तो हम अविश्वास कैसे करें ? इस अल्प वय में ही जो इतना अद्वितीय प्रतिभाशाली हो, ऐसे शिल्पी का हम सहर्ष स्वागत करते हैं।"

उनकी गुणग्राहकता का परिचय इससे भी मिलता है कि उन्होंने कवि,

गायक, नाट्याचार्य एवं महाशिल्पी आदि सभी प्रकार के कलाकारों को सम्मानित करते हुए उन्हें अपने राजदरबार में सम्मानीय स्थान प्रदान किया है और अनेक बार उनकी कला की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हैं।

प्रतापी नरेश—महाराज नरसिंहदेव एक प्रतापी नरेश हैं। इस तथ्य का उल्लेख इतिहास में भी मिलता है कि नरसिंहदेव ने वंग-प्रदेश में मुसलमान सूबेदारों को पराजित किया और गौड़ तक अपनी सेना को ले जाकर अनेक वर्षों तक वंग-प्रदेश में वे यवनों से लड़ते रहे। जैसी कि तत्कालीन राजतन्त्रीय व्यवस्था थी, महाराज भी अपने श्रेष्ठियों और सामन्तों पर पूर्णतया निर्भर थे और सामन्तों के परामर्श को ही उचित मानते थे, शिल्पियों से नहीं। निम्नलिखित कथनों से उनकी इस विचारधारा की पुष्टि होती है—"अपने मंत्रियों को नियुक्त करने या निकालने में हम सामन्तों और श्रेष्ठियों से सलाह लेंगे। शिल्पियों से नहीं।" "राजराज चालुक्य हमारे विश्वस्त महामात्य ही नहीं, हमारे पड़ौसी राज्य से भी सम्बद्ध हैं। उन्हीं पर भीतरी शासन का भार देकर हम यवनों को पराजित करने के लिए बंगदेश तक जा सके। तुम लोग इन बातों क्या समझो ?" "राज्य के स्तम्भ तो सामन्त और श्रेष्ठिगण हैं।"

अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ—एक राजा होने के नाते नरसिंहदेव को राजनीति में पूर्ण पटु और दूरदर्शी होना चाहिए किन्तु इसके विपरीत वह विश्वास एवं भावना के मार्ग पर चलते हैं। फलतः लगभग बारह वर्ष तक अपने महामात्य चालुक्य के भरोसे उत्कल का प्रबंध-भार छोड़ वे बंग-प्रदेश में लड़ते रहे और इसकी कोई जानकारी नहीं मंगाई कि चालुक्य का प्रबंध कैसा है ? और जब वे अपनी विजय-यात्रा पूर्ण कर वापिस लौटे तब भी वह भावावेश में अपनी सेना को पीछे छोड़कर अकेले चले आये। सूर्यमन्दिर में धर्मपद द्वारा चालुक्य द्वारा किए जा रहे अत्याचारों की कहानी सुनकर भी उनका राजनयिक सर्तक नहीं हुआ वरन् चालुक्य के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए वे उलटे शिल्पियों पर ही विश्वास नहीं करते हैं और कहते हैं—"चालुक्य ने तुमसे कहा ? ओह !··· (कुछ सोचकर फिर किंचित हँसते हुए) उन्होंने शायद तुम्हें यूँ ही धमकी दी होगी। उनका अभिप्राय तुम लोग नहीं समझे।"

"राजराज चालुक्य हमारे विश्वस्त महामात्य ही नहीं, हमारे पड़ौसी राज्य से भी सम्बद्ध हैं। उन्हीं पर भीतरी शासन का भार देकर हम यवनों को पराजित करने के लिए बंग-देश तक जा सके। तुम लोग इन बातों को क्या समझो !"

चालुक्य पर महाराज की यही अगाध आस्था और घोर अंधविश्वास ही कालान्तर में उनके लिए भीषण संकटमय हो उठा। एक ओर वे चालुक्य पर इतना विश्वास करते हैं और दूसरी ओर वही विश्वस्त व्यक्ति विश्वासघात करके उनके पास संदेश भेजता है कि वे आत्मसमर्पण कर दें। और इस विषम स्थिति के लिए नरसिंहदेव की अदूरदर्शिता ही सर्वाधिक उत्तरदायी है। उन्होंने चालुक्य

पर इतना अधिक विश्वास कर लिया कि उनकी पीठ के पीछे वह क्या-क्या करता रहता है इसकी जानकारी न तो उन्हें है और न ही वे उस जानकारी पर तब तक विश्वास करते हैं जब तक स्वयं संकट में नहीं पड़ जाते। यह उनकी अदूरदर्शी राजनीति का ही परिणाम है कि जिस अप्रतिम सूर्यमन्दिर का उन्होंने निर्माण कराया वही ध्वस्त हो गया और यदि धर्मपद बीच में न पड़ता तो संभवतः उन्हें अपने प्राणों से ही हाथ धोना पड़ता।

स्वाभिमानी एवं वीर पुरुष—महाराज नरसिंहदेव में एक योग्य राजा के सभी गुण हैं। वे वीर होने के साथ-साथ कुशल प्रबंधकर्त्ता भी हैं। बंग-प्रदेश में निरन्तर बारह वर्षों तक यवनों से लड़ना और अन्ततः उन्हें पराजित कर लौटना उनकी वीरता का ही द्योतक है। उत्साह की भी उनमें कमी नहीं है। जब धर्मपद संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध हो जाता है तब वह दिनभर किसी प्रकार युद्ध चलाकर रात्रि में समुद्र मार्ग से पुरी भाग जाने में सफल होते हैं। यह युक्ति उन्हीं के मस्तिष्क में उठी कि किसी प्रकार दिनभर युद्ध चलता रहे तो रात्रि में भाग जाने में सुविधा रहेगी किन्तु नरसिंहदेव वीर ही नहीं, स्वाभिमानी पुरुष भी हैं। आसन्न संकट के समय भी वह अपने स्वभाववश स्वाभिमान को नहीं त्याग पाते और जब चालुक्य का दूत उनसे आत्मसमर्पण के लिए कहता है तो वह इसे स्वीकार नहीं करते। नाटक में कतिपय अन्य स्थलों पर भी उनके स्वाभिमानी होने का परिचय मिलता रहता है।

प्रजा-वत्सल—कला मर्मज्ञ, प्रतापी, वीर एवं उदार होने के साथ ही, महाराज नरसिंहदेव का यह गुण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि वे अपनी प्रजा को अपनी संतान की भाँति प्यार करते हैं। वे अपनी प्रजा के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखते हैं और उसे किसी भी मूल्य पर दुःखी देखना नहीं चाहते। यद्यपि उन्हें यह रुचिकर नहीं कि प्रशासन के मामले में शिल्पी उन्हें परामर्श दें किन्तु महामात्य यदि शिल्पियों पर अत्याचार करें तो यह भी उन्हें अनैतिक प्रतीत होता है। वे एक स्थल पर कहते भी हैं—"हम महामात्य को आदेश देंगे कि कोई अनुचित बात न होने दें। राज्य के स्तम्भ तो सामन्त और श्रेष्ठिगण हैं किन्तु निर्धन प्रजा को सुखी रखने में ही हमारी कीर्ति है।"

निष्कर्ष—महाराज नरसिंहदेव के चरित्र का 'कोणार्क' के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने पर निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि उनमें नरेशोचित प्रताप, वीरता, उदारता, कला-मर्मज्ञता एवं प्रजा-वत्सलता आदि अनेक महान् गुण हैं। किन्तु जहाँ तक राजनीतिक दाव-पेचों का प्रश्न है, इस स्तर पर वे एक अदूरदर्शी राजनीतिक ही कहे जाएँगे। वे प्रत्येक बात को भावना के स्तर पर सोचते हैं किन्तु राजनीति में कहाँ पर क्या हो सकता है, इस ओर या तो उन्हें कोई ज्ञान ही नहीं है या फिर वह उसकी उपेक्षा करते हैं।

८. चालुक्य : विश्वासघाती व्यक्ति

'कोणार्क' नाटक में राजराज चालुक्य एक सहायक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। चालुक्य उत्कल नरेश महाराज नरसिंहदेव का अति विश्वसनीय महामात्य है किन्तु चूंकि वह नाटक का खलनायक है और कथा को दुखान्त की स्थिति में पहुंचाने का श्रेय भी उसी को है, इसलिए स्वभावतः वह दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति है। क्रूरता, विश्वासघात एवं छलपूर्ण राजनीति के सभी दाव-पेचों में वह कुशल है। नाटक में उसका पदार्पण सर्वप्रथम उस समय होता है जब विशु आदि शिल्पी शिखर पर अम्ल को स्थापित करने के विषय में परस्पर विचार-विमर्श कर रहे थे। आते ही वह न केवल विशु आदि शिल्पियों को अकुशलता के लिए फटकारता है वरन् एक सप्ताह के अन्दर मन्दिर पूर्ण न होने पर समस्त शिल्पियों को हाथ काट डालने की धमकी भी देता है। महाराज जब वंग-प्रदेश में यवनों को पराजित करने गए तो उत्कल का समस्त शासन-भार उसे सौंप गए थे और उनके जाते ही उसने समस्त प्रजा पर अत्याचार ढहाने प्रारम्भ कर दिए। यहाँ तक कि वह स्वयं ही महादण्डपाशिक भी बन बैठा। दुर्भाग्य से महाराज जब वापिस लौटे तो सेना को पीछे ही छोड़ आए थे। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर चालुक्य ने दण्ड पाशिकों एवं कुछ विश्वासघाती सामन्तों की सहायता से उन्हें कोणार्क मन्दिर में घेर लिया। प्रतिशोध की अग्नि में जलते विशु ने मन्दिर को ध्वस्त करके आततायी चालुक्य का विनाश कर दिया। इस प्रकार नाटक में चालुक्य का जो चरित्र उभरा है वह एक विश्वासघाती, धूर्त्त और स्वामि-द्रोही व्यक्ति का है। आगे हम राजराज चालुक्य की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन कर रहे है।

क्रूर स्वभाव—नाटक के प्रारम्भ में ही हमें विदित हो जाता है कि चालुक्य अत्यन्त धूर्त्त एवं क्रूर स्वभाव का व्यक्ति है। कोमलता, सरलता एवं उदारता का लेशमात्र भी उसके चरित्र में दिखाई नहीं देता। वे ज्यों ही कोणार्क मन्दिर में पहुँचता है त्यों ही विशु एवं अन्य शिल्पियों को इतनी बुरी तरह फटकारने लगता है कि शिल्पीगण वास्तविकता भी उसके समाने नहीं रख पाते। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"**चालुक्य** : देखता हूं नाट्याचार्य, तुम भी इन लोगों से मिले हुए हो। मन्दिर पूरा होना तो अलग रहा, यहाँ तुम लोग मिलकर राज्य पर दबाव डालने के लिए अभिसंधि कर रहे हो। इसे···

विशु : महामंत्री, मेरी भी सुनिए—

चालुक्य : चुप रहो। मैं तुम जैसे लोगों को राह पर लाने की युक्ति भली-

भाँति जानता हूँ। (खड़ा हो जाता है।) विशु, वर्षों से बिन माँगी प्रशंसा सुनते-सुनते तुम अपने को दण्ड विधान से परे समझने लगे हो। आज मैं तुम्हारे इस घमण्ड को चूर करने ही आया हूँ।.....सुन लो और कान खोलकर सुन लो! आज से एक सप्ताह के अन्दर यदि कोणार्क देवालय पूरा न हुआ तो तुम लोगों के हाथ काट लिए जाएँगे।

विशु : (अविश्वासपूर्ण स्वर में) शिल्पियों के हाथ काट दिये जाएँगे ?

चालुक्य : (सरोष) हाँ ! शिल्पियों के हाथ काट लिए जाएँगे। आज से आठवें रोज़ या तो मन्दिर में सूर्यदेव की मूर्ति का प्रतिष्टापन होगा या तुम बारह सौ व्यक्तियों की भुजाओं पर प्रहार।"

और कालान्तर में अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर वह सूर्यमन्दिर पर आक्रमण करके हज़ारों शिल्पियों एवं मजदूरों का निर्दयतापूर्ण संहार करता है। धर्मपद की जिस निर्ममता से वह हत्या करता है उसी को सुनकर विशु प्रतिशोधाग्नि में जलने लगता है।

कलाहीन व्यक्ति---एक ओर उत्कल-नरेश नरसिंहदेव हैं जो न केवल कला-प्रिय वरन् उसके मर्मज्ञ भी हैं और जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर एवं कोणार्क में न जाने कितने सुरुचिपूर्ण एवं कलात्मक मन्दिरों का निर्माण करवाते हैं और दूसरी ओर चालुक्य है जो नितान्त कलाहीन व्यक्ति है। वह स्वयं तो कला का निर्माण कर ही नहीं सकता वरन् कलाकारों को विविध प्रकार से सताता है। निम्न-लिखित संवादों से यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि वह कलाकारों से कितना द्वेष करता है कि उनका स्वर्णमुद्रा में पुरस्कार बंद कर देता है, उनको प्रदत्त भूमि छीन लेता है आदि—

"अगर महाराज का ऐसा ही विचार था तो कारीगरों को मुद्राओं का पुरस्कार देना क्यों बन्द कर दिया गया, देव !"

"राजाज्ञा है न कि बंग-देश में सेना भेजने वाले सामन्तों को उपहारस्वरूप यही जमीन दे दी जाए।"

महाराज के नाम पर यह सभी आदेश चालुक्य ही देता है, जो उसकी क्रूरता एवं कलाहीनता का प्रमाण है।

स्वामीद्रोही—महामात्य चालुक्य पर यद्यपि महाराज नरसिंहदेव अत्यधिक विश्वास करते हैं और विविध लोगों से उसकी बुराई सुनकर भी विश्वास नहीं करते कि वह धूर्त व्यक्ति है, किन्तु वास्तविकता यही है कि वह न केवल क्रूर और स्वार्थी है वरन् स्वामी-द्रोही भी है। महाराज उसे अपना सर्वाधिक विश्वसनीय व्यक्ति समझकर उसे उत्कल का शासन-भार सौंप जाते हैं और स्वयं बारह वर्षों तक बंग-प्रदेश में संघर्षरत रहते हैं तथा कभी भी यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि उसके कार्यकलाप कैसे हैं, दूसरी ओर चालुक्य महाराज की इस उदारता और विश्वास को अपने निहित स्वार्थों हेतु उपयोग में लाता

है और प्रजा पर मनमाने अत्याचार करता है। महाराज की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए वह पहले तो महादण्डपाशिक के अधिकार ग्रहण कर लेता है और फिर अपनी ही तरह के स्वार्थी सामन्तों को महाराज से विमुख करके स्वामी-द्रोह कर देता है। जब महाराज अपनी सेना को बंग-प्रदेश में ही छोड़कर अकेले कोणार्क के मन्दिर में आते हैं तो वह मौका पाकर मन्दिर को घेर लेता है तभी अपने उत्कल नरेश होने की घोषणा कर देता है और महाराज से आत्मसमर्पण करने को कहता है। चालुक्य का दूत शैवालिक यह संदेश लेकर जब नरसिंहदेव के समक्ष पहुँचता है तब जाकर कहीं महाराज को अपने तथाकथित विश्वस्त महामात्य के विश्वासघात का ज्ञान हो पाता है। उसके स्वामी-द्रोह का उदाहरण द्रष्टव्य है—

नरसिंहदेव : चालुक्य ! कलिंग नरेश !!···विश्वासघाती !!

महेन्द्र : स्वयं महाराज के सामने इतनी उद्धण्डता (खड्ग निकालते हुए) अभी-अभी तुझे नर्क का मार्ग—

शैवालिक : सावधान ! मुझ पर हाथ चलाने की चेष्टा न करो। मैं दूत के रूप में भेजा गया हूँ। (पत्र मंजूषा महाराज को देते हुए) यह लीजिए। महाराज राजराज चालुक्य का संदेश, और मुझे उत्तर दीजिए।

नरसिंहदेव : (हाथों से पत्र मसलते हुए) तो रथ की धुरी इसलिए टूटी थी। इसलिए कि इतने समय में दण्ड पाशिकों की सेना और माण्डलिकों को इकट्ठा कर लिया जाए। राजधानी में···

प्रतिहारी : प्रभु, राजधानी में चालुक्य के दण्डनायकों ने पहले तो राजप्रसाद पर अपना अधिकार जमा लिया है। यही शैवालिक कहता था।

कूटनीतिज्ञ—नाटक में चालुक्य को एक विश्वासघाती और धूर्त्त व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जिससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह बड़ा कूटनीतिज्ञ है। पुरी से कोणार्क की ओर चलते समय वह महाराज से रथ की धुरी टूट जाने का बहाना बनाकर मार्ग में ही इसलिए रुक जाता है ताकि इतने समय में वह षड्यन्त्र को सुदृढ़ बना सके। महाराज के आगे बढ़ते ही वह अपनी योजनानुसार राजप्रासाद पर अधिकार कर लेता है और अपने पक्ष के सामन्तों एवं माण्डलिकों को नियंत्रित करके दण्ड पाशिक सेना सहित कोणार्क मन्दिर को तीन ओर से घेर लेता है उसके इस सुनियोजित षड्यन्त्र का कोई आभास महाराज को नहीं मिल पाता उसकी कूटनीतिज्ञतों का परिचायक है। महाराज को षड्यन्त्र का ज्ञान तब होता होता है जब चालुक्य शैवालिक को दूत के रूप में उनके पास भेजकर आत्मसमर्पण की बात करता है। यद्यपि वह अपनी योजना में सफल नहीं हो पाता और मन्दिर के ध्वंस के साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है तथापि वह एक बड़ा कूटनीतिज्ञ है, इसमें संदेह नहीं।

निष्कर्ष—इस प्रकार 'कोणार्क' नाटक में चालुक्य का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है वह एक दुष्ट, धूर्त्त, विश्वासघाती, स्वामी-द्रोही तथा क्रूर व्यक्ति का चरित्र है जो उसे नाटकीय कथा का खलनायक भी बनाता है। दर्शक तथा पाठक के मन में उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं उपजती वरन् उसके चरित्र को देख वितृष्णा ही होती है।

९. कोणार्क : संवाद-सौष्ठव

नाटक के स्वरूप-विधान में कथोपकथन अथवा संवादों को मूल विधायक तत्वों में माना जाता है। ऐसा इसलिए कि नाटक के समस्त कार्य-व्यापार को संवाद ही सम्पादित करते हैं। यद्यपि प्रत्येक साहित्यिक-विधा में संवादों का महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु कथाकार की अपेक्षा नाटककार इस मामले में कुछ अधिक प्रतिबद्ध रहता है। कथाकार अपने भावों को अपने शब्दों में भी व्यक्त कर सकता है, किन्तु नाटककार को इतनी स्वतंत्रता कहाँ ? वह तो पात्रों और उनके संवादों को ही भाव-सम्प्रेषण का माध्यम बना सकता है। अपनी ओर से वह जो कुछ भी कहना चाहता है पात्रों के कथनों से ही कह सकता है, अपने कथनों से नहीं। इस प्रकार संवादों का सीधा-सम्बन्ध पात्रों के चरित्र-चित्रण और कथावस्तु के विकास से है। नाटक में प्रयुक्त संवाद जितने अधिक पात्रानुकूल स्वाभाविक, अभिनयात्मक, संक्षिप्त, सरल एवं प्रभावक होंगें, नाटकीय घटना और चरित्रों में उतनी ही सजीवता होगी। नाटक में विविध पात्रों के वार्तालाप से ही कथानक का विकास होता है और विविध घटनाएँ एक-दूसरी से संयोजित होती हैं। नाटककार में चुस्त, चुटीले एवं प्रसंगानुकूल संवाद प्रस्तुत करने की क्षमता होनी चाहिए क्योंकि गठे हुए संवादों से ही नाटक के देशकाल एवं वातावरण को चित्रित किया जा सकता है तथा इसके साथ ही पात्र की अन्तर्वाह्य परिस्थितियों का साक्षात चित्र भी संवादों के ही माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। नाटक के संवाद ही नाटकीयता के उद्देश्य को स्वयं नाटककार के उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं और जो समस्या उसमें उठायी गयी है, उसका भी वही अभिव्यक्ति देते हैं। इस प्रकार संवाद के बिना नाटकीय कथावस्तु निर्जीव हो जाती है और उसमें वह सम्प्रेषणीयता नहीं आ पाती, जो उसके लिए अनिवार्य है।

नाटककार श्री जगदीशचन्द्र माथुर के प्रभावशाली कथोपकथन उनकी कथोपकथन सृष्टि की एक निजी विशेषता है। उनके नाटक 'कोणार्क' के कथन प्रायः विषयानुकूल, समयानुकूल, संक्षिप्त, चुटीले एवं सरस हैं। उन

एक ऐसी यथार्थता है जो उन्हें प्राणवान बनाने में सहायक हुई है। इन संवादों से रचना में कथाशिल्प एवं नाटकीयता का मणिकांचन योग हो सका है। नाटक के संवाद पात्रों के व्यक्तित्व का उद्घाटन करते हैं। कथा को गति और शक्ति संवादों से प्राप्त होती है।

इस प्रकार 'कोणार्क' नाटक में प्रयुक्त संवादों के गुणों को हम निम्नलिखित उप-शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं, यह वर्गीकरण केवल विवेचन की सुविधा के लिए ही किया जा रहा है—

[१] स्वाभाविकता
[२] सरलता
[३] संक्षिप्तता
[४] पात्रानुकूलता
[५] प्रसंगानुकूलता
[६] गतिशीलता
[७] मनोरंजनपूर्णता
[८] चरित्र-प्रकाशन की क्षमता
[९] मनोवैज्ञानिकता
[१०] उपयुक्तता
[११] सम्बद्धता
[१२] रोचकता
[१३] मार्मिकता
[१४] प्रभाव क्षमता

अब हम संक्षेप में प्रत्येक की दृष्टि से 'कोणार्क' नाटक संवादों की समीक्षा करेंगे। यहाँ हम यह बता देना चाहते हैं कि कई संवाद ऐसे भी हैं जिनमें उपर्युक्त गुणों में से कई एक साथ भी दिखाई देते हैं, हाँ इतना अवश्य है कि कोई गुण कहीं पर अधिक प्रखर है, कोई कहीं पर।

(१) **स्वाभाविकता**—नाटकीय संवादों में स्वाभाविकता का होना आवश्यक है। अस्वाभाविक संवाद जहाँ बड़े अटपटे लगते हैं, वहाँ कथा की गति को भी अवरुद्ध करते हैं। अस्वाभाविक संवाद दर्शकों का ध्यान पात्रों की ओर से हटा देते हैं। इसलिए नाटककार को इस तथ्य को ध्यान में रखकर चलना चाहिए कि उसका कोई भी संवाद ऊलजलूल ने हो। 'कोणार्क' नाटक का लेखक इस तथ्य से परिचित जान पड़ता है। इस नाटक के संवादों में सर्वत्र स्वाभाविकता उपलब्ध होती है। विशु एवं धर्मपद का निम्नलिखित संवाद अपनी सहज स्वाभाविकता के लिए दृष्टव्य है :

विशु : वह अभागा श्रीधर मैं ही हूँ। विशु तो मेरा छद्म नाम है जो मैंने शबर अटवीयिका से भाग आने पर रख लिया था। मैं ही वह श्रीधर हूँ जिसके कारण तुम्हारी माँ को इतने कष्ट उठाने पड़े। मैं ही वह कठोर, पापी, निर्दय तुम्हारा पिता हूँ जिसने··· (अपने चेहरे पर हाथ रख लेता है।)

धर्मपद : (विशु के निकट जाकर मंद स्वर में) आचार्य !

विशु : (हल्के स्वर में) मुझे पिता कहो, धर्म।

धर्मपद : पिता ! (विशु के चरणों के पास धरती पर बैठता हुआ चाव भरे स्वर में) क्या आपको मेरी माँ की याद आती है ?

विशु : बीस बरस से उस याद के ही बल पर जी रहा हूँ।

सत्रह वर्ष बाद मिले पिता-पुत्र के इस संवाद में कितनी स्वाभाविकता है।

(२) **सरलता** : नाटक के पात्रों के संवाद सरल और सहज संवेद्य होने चाहिएं। दुरुहता नाटक के कथ्य को प्रवाहहीन और प्रभावहीन बना देती है। संवादों की सरलता नाटक की अभिनेयता में भी सहायक होती है। 'कोणार्क' नाटक के संवादों में यह गुण भी सर्वत्र मिलता है। उसके संवादों में सरलता के साथ ही चुस्ती, चुटीलापन और त्वरा भी है। चालुक्य, विशु एवं धर्मपद का एक संवाद इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है :

विशु : आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली।

चालुक्य : सूचना देता तो तुम लोगों का भंडाफोड़ कैसे होता ?

विशु : जी !

चालुक्य : राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्य-कोष का धन नष्ट हो रहा है। न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं न मजदूर। दस दिन हो गए, कलश तक स्थापित न हो सका ?

विशु : हम लोग बराबर उसी की चेष्टा में लगे हुए हैं।

चालुक्य : (मुँह बनाते हुए) चेष्टा में लगे हुए हैं···यहाँ तो मैं देखता हूँ गप्पें हो रही हैं। (सहसा धर्मपद पर दृष्टि पड़ जाती है, इशारा करते हुए) और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा है ?

धर्मपद : मैं ? मैं आचार्य के सामने शिल्पियों की दुःख-गाथा कह रहा था !

चालुक्य : शिल्पियों की दुःखगाथा ? प्रतिहारी, इसे धक्का देकर बाहर निकालो। मुफ्तखोर कहीं का ?

संवादों की सरलता का यह गुण 'कोणार्क' नाटक के सभी पात्रों के संवादों में मिलता है।

(३) **संक्षिप्तता** : नाटक में दीर्घ और संक्षिप्त—दोनों प्रकार के संवाद हुआ करते हैं किन्तु संक्षिप्त संवाद-योजना ही अधिक श्रेष्ठ मानी जाती है। दीर्घ संवाद एक तो नाटकीय कथा की गति को बोझिल कर देते हैं, दूसरे एक ही पात्र को बहुत देर तक बोलने सुनने पर दर्शक या पाठक ऊब उठता है। 'कोणार्क' नाटक का स्रष्टा इस तथ्य से सर्वथा परिचित है, इसलिए इस नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र संवादों में संक्षिप्तता है और ये संक्षिप्त संवाद कथा की गति को तीव्रता से आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। 'कोणार्क' नाटक का प्रत्येक पात्र छोटे-छोटे वाक्यों में अपनी बात कह देता है और इस प्रकार कथा-क्रम को तीव्रता से आगे बढ़ाने में पर्याप्त सहायता देता है।

संक्षिप्त संवाद-योजना का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

नरसिंहदेव : क्या है महेन्द्र ?

महेन्द्र : (चिन्तित स्वर में) महामात्य तो अभी तक नहीं आए देव ! किन्तु कुछ लोग आते दीख पड़ते हैं।

नरसिंह : जान पड़ता है, महामात्य ने मांडलिकों और सामन्तों को भी आज के समारोह में सम्मिलित होने के लिए बुला रखा है।

महेन्द्र : किन्तु इस निमन्त्रण को महाराज से गुप्त रखने का आशय ?

नरसिंह : कौतुक !

महेन्द्र : नहीं देव !

नरसिंहदेव : तब ?

महेन्द्र : (रहस्यपूर्ण मुद्रा और गहरा स्वर) षड्यन्त्र !

नरसिंह (चौंककर) महेन्द्र !

इस प्रकार की संक्षिप्त संवाद-योजना नाटक में सर्वत्र देखी जा सकती है।

(४) **पात्रानुकूलता**—नाटक में प्रत्युक्त संवादों का स्तर पात्रों के अनुकूल होना चाहिए अर्थात् जो पात्र जिस स्तर का हो, उसके संवाद भी उसी स्तर के होने चाहिएं। 'कोणार्क' नाटक के संवादों में पात्रानुकूलता के दर्शन भी होते हैं। नाटक का प्रत्येक पात्र अपने स्तर के अनुकूल संवाद बोलता है। धर्मपद अन्याय का प्रतिकार करने वाला, स्पष्ट वक्ता एवं तर्कशील युवा कलाकार है। राजदरबार के नियमों से सर्वथा अपरिचित। इसीलिए उसके संवादों में निश्छलता एवं बनावट-हीनता मिलती है। दूसरी ओर विशु राज-शिल्पी है। इसलिए उसके संवादों में स्वाभाविक विनय एवं सम्मान-भावना के दर्शन होते हैं। यही बात अन्य पात्रों के संवादों के सम्बंध में कही जा सकती है।

(५) **प्रसंगानुकूलता**—नाटकीय पात्रों के संवादों में पात्रानुकूलता के साथ ही प्रसंगानुकूलता भी अपेक्षित है। यदि पात्र प्रसंग अथवा अवसर के अनुकूल कथन नहीं कहता तो वह ऊलजलूल ही प्रलाप कहा जाएगा। वास्तव में पात्रों को समय और स्थिति के अनुरूप ही संवाद बोलने चाहिएं। 'कोणार्क' नाटक के संवादों में प्रसंगानुकूलता का गुण प्रभूत मात्रा में मिलता है। उदाहरण प्रस्तुत है :

प्रतिहारी : प्रभो, राजधानी में चालुक्य के दंडनायकों ने पहले ही राजप्रसाद पर अपना अधिकार जमा लिया है। यही शैवालिक कहता था।

नरसिंह : तोषालि और कणिका के सामन्त ?

शैवालिक : वे सभी हमारे साथ हैं।

नरसिंह : उफ, नीच पामर ! सबके सब विश्वासघाती !

शैवालिक : राज्य-सत्ता की भित्ति विश्वास नहीं, बल है।

महेन्द्र : बल ?···यवन-विजेता पराक्रमी नरेश बलहीन कब से हो गये ?

शैवालिक : यवन-विजेता की सेना कहाँ है ?

नरसिंह : सेना ! यदि हमें इस दुरभिसन्धि का लेशमात्र भी आभास होता तो हमारी सेना···

शैवालिक : वंग-देश में न होती ! किन्तु अब पछताने से क्या होता है ? आपके सामने एक ही मार्ग है।

नरसिंह : आत्मसमर्पण ? कभी नहीं।

शैवालिक : तब आत्म-हत्या ? युद्ध में पराजित होकर बंदी होना आत्महत्या के तुल्य होगा।

इस प्रकार के अनेक संवाद प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो प्रसंग एवं समय के सर्वथा अनुकूल हैं और इसीलिए स्वाभाविक भी हैं।

(६) **गतिशीलता**—गतिशीलता संवादों का एक अन्य महत्वपूर्ण गुण है। गतिशीलता से यह आशय है कि पात्रों के संवाद नाटकीय कथा को शीघ्रता से आगे बढ़ाने में योग दे सकें। यदि पात्रों के संवाद गतिशील नहीं हैं तो कथा की गति भी अवरुद्ध हो जाती है। 'कोणार्क' नाटक के संवादों में गतिशीलता अत्यधिक परिमाण में मिलती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

धर्मपद : ये चारों प्रतिहारी गण, सिंहद्वार पर शिल्पियों के साथ व्यूह की रचना करेंगे। (प्रतिहारियों का प्रस्थान) मैं शीघ्र बाहर जाकर शिल्पियों और मजदूरों को टोलियों में बांटता हूँ (तीसरे शिल्पी से) गजाधरजी, आप अस्त्रों को एकत्र करें !

गजाधर : मैं अभी जाता हूँ (प्रस्थान)

धर्मपद : और आचार्य सौम्यश्री, आप ?

सौम्य : मुझे केवल नाट्याचार्य न समझो, धर्मपद ?

धर्मपद : आर्य, आप आचार्य विशु के साथ नृत्य-मण्डली की सहायता से घायलों की शुश्रूसा का भार लें।

नरसिंह : और तुम धर्मपद ?

धर्मपद : आज्ञा हो, तो मैं नट मन्दिर की छत से निर्देशन करता रहूँगा ?

नरसिंह : शत्रु के बाण उधर ही आएँगे।

धर्मपद : उसके लिए प्रस्तुत हूँ महाराज।

(७) **मनोरंजनपूर्णता अथवा व्यंग्यात्मकता**—नाटकीय कथा को सप्राण एवं रोचक बनाने के लिए उसके संवादों में हास्य अथवा व्यंग्य का समावेश अवश्य होना चाहिए। कथानक के बीच-बीच में हल्का-फुल्का हास्य जहाँ दर्शकों में ताजगी भरता है, वहीं व्यंग्य कथावस्तु को वक्रता के साथ सम्प्रेष्य बनाता है। 'कोणार्क' नाटक में हास्य कथावस्तु के विपरीत पड़ता इसलिए उसके संवादों में हास्य की नियोजना नहीं की गयी है। हाँ, व्यंग्य उसमें अनेक स्थलों पर मिलते हैं। धर्मपद और महाराज नरसिंहदेव के संवादों में व्यंग्य की स्पष्ट छटा देखी जा सकती है।

(८) **चरित्र प्रकाशन की क्षमता**—नाटक के संवाद ऐसे होने चाहिएं जो पात्रों के चरित्रों का उद्घाटन करने की क्षमता रखते हों। पात्रों की मनोदशा एवं उनके आन्तरिक ऊहापोह को संवादों से जाना जा सकता है। 'कोणार्क' नाटक में ऐसे संवादों की भी कमी नहीं है। यह संवाद दो प्रकार के होते हैं—

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष रूप से चरित्र-प्रकाशन वहाँ पर होता है, जब दो पात्रों के वार्तालाप से सीधे उनके चरित्रों पर प्रकाश पड़े किन्तु अप्रत्यक्ष विधि वह है जब दो पात्र अपने वार्तालापों से अन्य पात्र के चरित्र का उद्घाटन करें। प्रायः नाटक में दोनों प्रकार के ही संवाद प्रयुक्त किए जाते हैं। 'कोणार्क' में भी हम इन दोनों प्रकार के संवादों के दर्शन करते हैं जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से चरित्र प्रकाशन करते हैं।

(९) **मनोवैज्ञानिकता**—आधुनिक नाटकों में पात्रों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रित किया जाता है। इसलिए नाटक में पात्रों के संवादों के माध्यम से उनकी मानसिक स्थिति, ऊहापोह और अन्तर्द्वन्द्व का उद्घाटन भी होता है। 'कोणार्क' नाटक में विशु एवं धर्मपद के संवादों में मनोवैज्ञानिकता का यह गुण विशेष रूप से द्रष्टव्य है। विशु के संवादों में उनकी प्रणय-भावना, आत्म-निषेध, आत्मछल एवं ममता का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इसी प्रकार धर्मपद की विद्रोहशीलता को भी संवादों के माध्यम से ही मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति मिली है। अपने पुत्र धर्मपद को आततायियों के सम्मुख मृत्यून्मुख देखकर और अपनी श्रेष्ठ कलाकृति 'कोणार्क' को उनके हाथों में जाता देखकर विशु का हृदय विक्षुब्ध हो उठता है। निम्नलिखित कथन में उसकी इस दशा का कितना सुन्दर मुखरण हुआ है:

"(साष्टांग अवस्था में रुंधे गले से) हे सूर्यभगवान्! हे भुवनभास्कर! बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया, तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रंगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवान् मैं यह कैसे सह सकता हूँ? तुम, मेरे, सारे जगत् के, प्रतिपालक हो; पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हारा निर्माता हूँ। (मस्तक उठाता है। हमें उसके चेहरे का पार्श्व अंश ही दीखता है) तुम मेरे देव हो! तुम्हें मेरा कहा करना होगा। (उठते हुए) कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे?···नहीं!! (खड़ा हो जाता है) ठीक है न मेरे भगवान्!"

(१०) **उपयुक्तता** : उपयुक्तता से आशय संवादों के घटना, अवसर एवं वातावरण के उपयुक्त होने से है। इससे संवादों में सजीवता आती है। पात्रों का वार्तालाप प्रसंगानुकूल लगता है और अस्वाभाविकता आदि दोषों का परिहार होता है। यदि संवादों में घटना, भाव और अवसर के उपयुक्त दृष्टिकोण नहीं है तो वह संवाद दोषमय हैं; किंतु 'कोणार्क' नाटक में प्रयुक्त संवादों में उपयुक्तता का गुण सर्वत्र विद्यमान है।

(११) **सम्बद्धता**—पात्रों के संवाद, कथानक और पात्रों से सम्बद्ध होने चाहिएं। 'कोणार्क' नाटक के संवादों में यह गुण भी मिलता है। नाटक के

पात्रों के संवाद कथानक से मेल खाते हुए ह और कथा-गति के अनुकूल हैं। कहीं पर भी ऐसे संवादों का प्रयोग नहीं हुआ है जो कथानक से पूर्वा पर सम्बन्ध न रखते हों। कुछ संवाद कथा के पीछे की ओर संकेत करते हैं, तो कुछ के द्वारा आगामी कथा के संकेत मिलते हैं। कुछ में वातावरण का प्रभाव है।

(१२) **रोचकता**—नाटक में वर्णित संवादों में रोचकता का गुण भी अपेक्षित है। यदि उनमें रोचकता नहीं होगी तो न तो वे कथावस्तु को उपयुक्त ढंग से आगे बढ़ाने में समर्थ होंगे और न ही दर्शकों पर उनका कोई आकर्षक प्रभाव पड़ेगा। संवादों का आकर्षण दर्शक-पाठक के मन को बरबस अपनी ओर आकर्षित किए रहता है। 'कोणार्क' नाटक के संवादों में पर्याप्त रोचकता है। उदाहरणार्थ :

विशु : बंदी ! हमारे पूज्य महाराज बंदी हों, यह अनाचार कैसे हो सकता है, कैसे हो सकता है ?

शैवालिक : तुम्हें इन बातों से क्या मतलब ? तुम लोग शिल्पी हो, कल इनके नौकर थे, आज से राजराज चालुक्य महाराज के। शासन की बागडोर चाहे जिसके हाथ में हो, तुम्हें तो अपनी कला-साधना करनी है।

धर्मपद : (जो अब तक मूर्तिवत् देखता रहा है) बहुत हुआ, बहुत हुआ दूत ! क्या हम लोग भेड़-बकरियाँ हैं जो चाहे जिसके हवाले कर दी जाएं ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है। जिस सिंहासन को आज तुम डांवाडोल कर रहे हो, वह हमारे ही तो कंधों पर टिका है। क्या उस पर वह बैठेगा, जिसके कारण सैकड़ों घर उजड़ चुके हैं, वह जिसने कोणार्क के सौन्दर्य-निर्माता शिल्पियों को ठीकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजा-वत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव।

नरसिंह० : शाबाश धर्मपद !

सौम्य० : धर्मपद तुम्हारे शब्दों में शिल्पी की आत्मा बोलती है।

(१३) **मार्मिकता**—नाटक में संवादों की योजना ऐसी होनी चाहिए कि उसमें पाठक-दर्शक के हृदय को छूने की क्षमता हो, उन पर प्रभाव डालने की शक्ति हो और दर्शक-पाठक नाटकीय कथा में रम सकें, उससे तादात्म्य स्थापित कर सकें। यह मार्मिकता का गुण ही संवादों को प्रभविष्णु बनाता है। विशु एवं सौम्यश्री का यह संवाद मार्मिकता के गुण से कितना प्रभूत है, स्वयं विचार कीजिए :

विशु : हाँ सौमू ! (विभोर-सा) वह वन की कली थी। जंगली शबर जाति की कन्या। चट्टान को फोड़कर बहने वाली निर्द्वन्द्व, निष्कलुष जल-धारा।

सौम्य : शबर कन्या ?

विशु : उसका नाम था सारिका ! हमारे नगर में हाट के दिन, अपने गांव वालों के साथ, जंगली छाल, जड़ियाँ बेचने आती।

सौम्य : और नगर की ऊँची अटारी का बासी सूर्य, उन वन-कलिका पर मुग्ध हो गया।

विशु : जैसे स्वर और ताल एक-दूसरे पर रीझते हैं। वह मदभरे पावस-सी उन्मत्त थी, पुष्पावृत, कामनी तरु-सी सम्पन्न।

सौम्य : लेकिन वह रागिनी टूटी कैसे ?

विशु : वही कायरपन की कथा ! सूर्यदेव भी तो कायर ही थे ?

सौम्य : और कुन्ती भी ! तभी तो उसने अपनी संतान को गंगा में बहा दिया।

विशु : लेकिन उसने ऐसा नहीं किया होगा, सौमू, कदापि नहीं।

सौम्य : तुमने अपनी संतान को देखा था ?

विशु : नहीं सौमू ! जब मुझे ज्ञान हुआ कि वह माँ बनने वाली है तो कुल और कुटुम्ब के भय ने मुझे ग्रस लिया। नदी पर बढ़ती सांझ की तरह उस भय की तन्द्रा मेरी बुद्धि पर छा गयी। और मैं भाग आया, सारिका और उसकी अज्ञात संतान से दूर—बहुत दूर—भुवनेश्वर में देवमन्दिर की छाया में—कला के आंचल में अपना मुंह छिपाने।

सौम्य : (कुछ सोचकर) वियोग के बादलों पर सूर्य की किरणें बिखरीं और कला का सतरंगी इंद्रधनुष सारे उत्कल पर छा गया।··· कैसी विडंबना है विशु, कि तुम्हारी टूटी हुई रागिनी का विषाद ही तुम्हारी चमत्कारपूर्ण कला का वैभव बना।

विशु : (आविष्ट स्वर) सौमू ! भव्य मन्दिरों को बनाने वाले मेरे ये हाथ सारिका और उसकी संतान के लिए एक झौंपड़ी भी न बना सके।

(१४) **प्रभावक्षमता**— पात्रों के संवाद जितने अधिक प्रभावशाली होंगे, उनकी रमणीयता में उतनी ही वृद्धि होगी। 'कोणार्क' नाटक के संवादों में पर्याप्त प्रभावक्षमता है।

सम्भवतः कोई भी संवाद ऐसा नहीं है जिसमें अपना प्रभाव छोड़ने की शक्ति न हो। विशु एवं सौम्यश्री के उपर्युक्त संवाद में यह गुण देखा जा सकता है। नाटक में कई संवाद तो ऐसे हैं जो इतने प्रभावशाली हैं कि दर्शक या पाठक को सूक्ति जैसे प्रतीत होते हैं और उनके प्रभाव से वह काफी समय तक मुक्त नहीं हो पाता। यथा—धर्मपद का यह कथन—"झुरमुट की ओट में चहकने वाले पक्षी का स्वर सर्वथा हर्ष-गान ही नहीं होता।"

निष्कर्ष—अन्ततः हम कह सकते हैं कि 'कोणार्क' नाटक के संवादों में स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, सरलता, अनुकूलता, रोचकता, उपयुक्तता एवं पर्याप्त प्रभाव-क्षमता है। वे पात्रों के चरित्र का प्रकाशन करने एवं नाटक की ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखने में सक्षम हैं। संवादों के इन्हीं गुणों के कारण नाटक के कथानक में नाटकीयता में अभिवृद्धि हुई है।

१०. कोणार्क : देशकाल और वातावरण

यद्यपि देशकाल और वातावरण का महत्व साहित्य की सभी विधाओं में है किन्तु नाटक में उसका सर्वाधिक महत्त्व होता है। नाटक में वास्तविकता, सजीवता और गरिमा लाने के लिए अनुकूल वातावरण का होना नितान्त आवश्यक है। देशकाल की परिस्थितियों, परम्पराओं और जीवन-पद्धतियों की दिग्दर्शिका वेषभूषा आदि का जितना स्वाभाविक चित्रण नाटक में होगा, उतनी ही सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता उसमें आ सकेगी। भौगोलिक सीमाओं की भी वातावरण के लिए पर्याप्त उपयोगिता है। ऐतिहासिक नाटकों में तो देशकाल एवं वातावरण का चित्रण अपरिहार्य है। उसमें तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक परिवेश, भाषा, आचार-व्यवहार एवं रहन-सहन का यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत करना नाटककार के लिए अपेक्षित है। क्योंकि इसके बिना किसी भी ऐतिहासिक नाटक की कथा स्वाभाविक एवं सहज-संप्रेषणीय नहीं बन सकती। वातावरण के विषय में यह अत्यन्त स्मरणीय है कि यह कथानक एवं चरित्र के प्रकाशन तथा स्पष्टीकरण का साधन मात्र है। अतः साधन कहीं साध्य न बन जाये, या साध्य के व्यक्तित्व को आद्यान्त आच्छादित करके हीन एवं उपेक्ष्य न बना दे, इस मूल पकड़ का ध्यान स्रष्टा को आरम्भ से ही होना चाहिए। वातावरण में देशकाल ग्राह्य है और साथ ही आन्तरिक मनोदशा का भी चित्रण उसमें हो। अस्तु, इन दोनों के द्वारा ही सच्चा एवं पूर्ण वातावरण तैयार होता है। प्राकृतिक चित्रणों और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामंजस्य नाटक को पर्याप्त मात्रा में स्पन्दनयुक्त, सरस, प्रभावक एवं उष्ण-प्राण बनाता है। ऐतिहासिक नाटककार को कथानुकूल दृश्य-संयोजन एवं रंग-संकेत देने चाहिएं, क्योंकि इस प्रकार के नाटकों में देशकाल और वातावरण मूल कथानक को अत्यधिक प्रभावित करता है।

हिन्दी में प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों में देशकाल और वातावरण को मूर्तमान् कर देने की लगन, ललक सर्वाधिक सशक्त रूप में दिखाई देती है। आलोच्य नाटक 'कोणार्क' भी एक ऐतिहासिक नाटक है और लेखक ने तत्कालीन देशकाल एवं वातावरण को प्रस्तुत करने में पर्याप्त सजगता प्रदर्शित की है। इस नाटक में ऐतिहासिक वातावरण को भव्य, वास्तविक, स्वाभाविक, सुन्दर और कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास नाटककार श्री माथुर ने किया है।

'कोणार्क' नाटक में चित्रित देशकाल एवं वातावरण का मूल्यांकन हम निम्नलिखित दृष्टियों से कर सकते हैं।

१. आन्तरिक वातावरण, और

२. बाह्य वातावरण।

आन्तरिक वातावरण में घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण आता है तथा पात्रों की मानसिक स्थिति, उनके हाव-भाव तथा अन्तर्द्वन्द्व का चित्र आता है और बाह्य वातावरण में तत्कालीन सभी परिस्थितियाँ आ जाती हैं। अब हम इन दोनों प्रकार के वातावरण की दृष्टि से 'कोणार्क' नाटक पर दृष्टिपात करेंगे और यह देखेंगे कि इनका चित्रण कितना और किस रूप में आलोच्य नाटक में संभव हो सका है।

१. आन्तरिक वातावरण
   (क) घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण।
   (ख) पात्रों की मानसिक स्थिति का चित्रण।
   (ग) पात्रों के हाव-भाव और अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण

२. बाह्य वातावरण
   (क) सामाजिक परिस्थितियाँ।
   (ख) धार्मिक परिस्थितियाँ।
   (ग) कला और संस्कृति।
   (घ) राजनीतिक परिस्थितियाँ।

१. आन्तरिक वातावरण की सृष्टि

(क) **घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण**—घटनाओं और परिस्थितियों के चित्रण द्वारा नाटककार नाटक की पृष्ठभूमि का वातावरण तैयार करता है। इसके साथ ही इससे परिस्थितियाँ स्वाभाविक बनती हैं। घटना-विशेष अथवा परिस्थिति-विशेष से आन्तरिक वातावरण मूर्त्त रूप में सामने आता है। 'कोणार्क' एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित नाट्य-रचना है और इसमें नाटककार ने विख्यात सूर्यमन्दिर के ध्वंस की घटना को प्रस्तुत किया है। इसके लिए लेखक श्री माथुर ने सूर्यमन्दिर के प्रधान शिल्पी के घर की स्थिति, मन्दिर-निर्माण में उसकी लगन-शीलता, महामात्य चालुक्य की धमकी से व्युत्पन्न शिल्पियों का भय, आतंक, धर्मपद की विद्रोहधर्मिता, चालुक्य के सैनिकों एवं शिल्पियों के प्राणान्तक संघर्ष, और अन्ततः विक्षुब्ध विशु द्वारा मन्दिर के ध्वंस आदि का चित्रण इसी आन्तरिक पृष्ठभूमि में किया है। चालुक्य द्वारा शिल्पियों को दी गई धमकी का जो प्रभाव शिल्पियों पर पड़ा, उसकी अभिव्यंजना इस प्रकार के वातावरण में हुई है और यह पात्रों की परिस्थितियों का व्यापक रेखांकन करने में समर्थ है। देखिए :

राजीव : (नीरव तोड़ते हुए भीत स्वर में) अब क्या होगा ?

(विशु अचेतन-सा चौकी पर बैठ जाता है।)

सौम्य : राजनगरी में अपराधियों के हाथ कटते मैंने देखे हैं। बड़ी पीड़ा होती है।

विशु : (मानो सपने में) उत्कल-नरेश की आज्ञा ? महाराज मेरी बरसों

की सेवाओं पर इतना भीषण कुठाराघात करेंगे ?

सौम्य : क्या मालूम उत्कल-नरेश की आज्ञा है, या महामात्य का अपना उत्पात । हमारे पास साधन भी नहीं, समय भी तो नहीं कि महाराज के मन की बात जान सकें । वे अभी तक बंग-विजय के उपरान्त लौटे भी नहीं हैं ।

राजीव : सात दिन ! केवल सात दिवस के बाद हम सबों के हाथ काट लिए जाएँगे ?

सौम्य : ये हाथ··· (कांपकर हाथों को देखता हुआ) ये हाथ !

[सूखी हँसी]

(ख) पात्रों की मानसिक स्थिति का चित्रण—आन्तरिक वातावरण की दृष्टि से इस प्रकार का चित्रण माथुरजी ने अत्यन्त सशक्त ढंग से किया है । इस चित्रण के द्वारा पात्रों की संपूर्ण मानसिक स्थिति और तज्जनित वातावरण को मूर्त्त कर दिया गया है । विशु एवं धर्मपद, यही दो ऐसे पात्र हैं, जिनकी मानसिक अवस्था का अंकन नाटककार ने किया है—और बड़े सशक्त ढंग से किया है ।

निम्नलिखित संवाद में विशु की मानसिक स्थिति अपनी संपूर्ण मार्मिकता के साथ द्रष्टव्य है—

विशु : (सावेश तेज स्वर) सौमू, मेरे प्रश्न का उत्तर दो ।···वह कैसा है ?

सौम्य : (साश्चर्य) विशु ! क्या हुआ तुम्हें ?··· (निकट जाकर) और··· और मेरी प्रतिमा के निकट इस तरह मुट्ठी बांधे तुम क्यों खड़े हो ?

विशु : (घूमकर मुट्ठी खोलता है) देखो !

सौम्य : हाथी-दांत का कंकण ।··· (करीब आकर गौर से देखता हुआ) अरे, ठीक वही आकृति, ठीक वही छवि—

विशु : जो मैंने तुम्हारी मूर्त्ति के कण्ठहार में अंकित की है !

सौम्य : कहाँ मिली तुम्हें ?

विशु : धर्मपद के गले से गिरी थी, जब वह मूर्छित हुआ ।

सौम्य : (अविश्वास के स्वर में) धर्मपद के गले से ?···धर्मपद ?···यानी धर्मपद—

विशु : (हठात् विह्वल स्वर में, मानों बांध टूटा हो) बताओ सौमू ; वह कैसा है ? बताओ ।

सौम्य : विशु, स्थिर होओ !

विशु : स्थिर होऊँ ? ···तुम नहीं समझोगे बन्धु ! बताओ, बताओ क्या उसकी मूर्च्छा दूर हुई ?

सौम्य : मूर्च्छा दूर हो गयी । रक्त बहना भी बन्द हो गया । अब तो वह पुनः युद्ध के लिए तैयार है ।

विशु : पुनः युद्ध रोको, सौमू, उसे रोको ।

सौम्य : शान्त विशु।···रात में तो युद्ध बंद रहेगा और कल सवेरे तक निश्चय ही जगन्नाथपुरी से महाराज के अश्वारोही दल आ पहुँचेंगे।···किन्तु विशु मुझे तुम्हारी चिन्ता है।

विशु : मेरी चिन्ता ?···बरसों की खोई निधि पा रहा हूं, सौमू !

सौम्य : अपनी बेताबी से उसी निधि को पुनः न खो देना।

विशु : सौमू ! कैसे उसे बताऊंगा ? मुझे तो वह जानता नहीं, पर जान लेने पर क्या सोचेगा।

वह ? शायद···शायद··· (विकल मुद्रा) ओह सौमू ! बरसों गुफा के अंधेरे के बाद यह बेदर्द उजाला क्या मुझे अँधा बनाकर रहेगा ?

(ग) पात्रों के हाव-भाव और अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण—माथुरजी ने पात्रों के मुख से केवल संवाद ही नहीं कहलवाये हैं अपितु उनके कथन का दूसरे पात्र पर क्या प्रभाव होता है और कथन से पूर्व स्वयं दूसरे के कथन का उस पर क्या प्रभाव होता है—क्या प्रतिक्रिया होती है, इसका सुन्दर निदर्शन किया है। इससे पात्रों की गूढतम आन्तरिक स्थिति का सम्यक् परिचय मिल जाता है। पात्रों के हाव-भावों और उनके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण विशेष रूप से संवादों के मध्य ही हुआ है। उदाहरणार्थ यह संवाद द्रष्टव्य है :

विशु : (मानो अंधे को टिमटिमाता प्रकाश दीखा हो) युवक ! तुम्हारी बात सारहीन नहीं जान पड़ती। अम्ल के केन्द्र पर शायद अधिक भार देने से कलश की यष्टि को सहारा मिले। (विचार-मग्न मुद्रा)

धर्मपद : (खड़िया से एक पत्थर पर जल्दी-जल्दी आकृति खींचता हुआ) मेरे मन में जो चित्र है उसे यों पूरी तरह तो नहीं समझा जा सकता, किन्तु देखिए, अम्ल का आकार यदि कुछ इस तरह का हो तो—(राजीव और विशु धर्मपद के निकट आकर रेखाचित्र का अवलोकन करते हैं।)

विशु : (ध्यान-मग्न मुद्रा में कुछ दूर हटते हुए) हूँ।··· इस बात में कुछ तथ्य है।··· शायद···शायद अम्ल के बाहरी भाग पर इस समय अनुपात से अधिक भार है। ··· अगर···अगर हम उस भाग को हल्का कर सकें। तुम ठीक तो कहते हो युवक, (खड़े होते हुए) तुम ठीक कहते हो।·· भार को हल्का करने के लिए अगर पटल को अन्तर्मुखी कर दिया जाए तो सम्भव है···सम्भव है··· सम्भव !! (कलाकार की भावना चरमबिन्दु पर पहुंच गयी है।) धर्मपद, चलो मेरे साथ। अभी चलो। हम छप्र के ऊपर चढ़कर अभी तैयारी करेंगे—पटल बदलने की। अभी ! (मध्य द्वार की ओर बढ़ता है।)

उपर्युक्त उद्धरण में कलाकार विशु की सच्ची कलाप्रियता, उद्वेग एवं भावाकुलता के वातावरण को लेखक ने अत्यन्त सशक्त ढंग से तैयार किया है।

२. बाह्य वातावरण की सृष्टि

(क) सामाजिक परिस्थितियाँ—नाटक में तत्कालीन समाज की यद्यपि

स्पष्ट रूप से कोई तस्वीर नहीं खींची गयी है और नहीं नाटकीय कथा के परिप्रेक्ष्य में यह सम्भव था, तथापि विशु, धर्मपद आदि के संवादों से तत्कालीन सामाजिक दशा का थोड़ा, बहुत परिचय मिल ही जाता है। विशु शवर कन्या सारिका से अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने एवं उसे गर्भवती बनाने के बाद केवल इस भय से भाग आता है क्योंकि इससे परिवार एवं समाज में उसकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाती। इस सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए ही वह अपना मूल नाम श्रीधर को बदलकर विशु बनाता है। इसी प्रकार धर्मपद के संवादों से तत्कालीन ग्रामीण एवं मजदूर वर्ग की निर्धनता, विपन्नता तथा पेट भरने के लिए शहरों को आने की विवशता का पर्याप्त चित्रण भी मिल जाता है। साथ ही, यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन शिल्पी भी छैनी, हथौड़ी और कुदाली का प्रयोग करते थे और अस्त्र-शस्त्रों के रूप में धनुर्बाण तथा खड्ग का व्यवहार प्रचलित था।

(ख) **धार्मिक परिस्थितियाँ**—धार्मिक परिस्थितियों के विषय में 'कोणार्क' में कुछ अधिक सूचना नहीं दी गई है। केवल इतना ही बतलाया गया है कि तत्कालीन उत्कल प्रदेश में मन्दिरों का निर्माण बहुतायत से हुआ था। विशु द्वारा ही जगन्नाथपुरी में अनेक मन्दिरों के निर्माण की सूचना नाटक में दी गई है। इस विषय में 'परिचय' के अन्तर्गत लेखक ने लिखा भी है—"ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल, भव्य और कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला के साक्षी-रूप खड़े हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ मन्दिर, सूर्य-देवता का देवालय, कोणार्क में स्थित है।" इसी कोणार्क के सूर्यमन्दिर की कथा नाटक में दी गई है।

(ग) **कला और संस्कृति**—नाटक में तेरहवीं शताब्दी के उत्कल-नरेश नरसिंहदेव के युग की कला और संस्कृति की पर्याप्त जानकारी मिल जाती है। कोणार्क के सूर्यमन्दिर को शिल्पी विशु की निखरी हुई कला का अभूतपूर्व चमत्कार नाटक में बताया गया है। सूत्रधार कहता भी है—"बारह सौ शिल्पियों और मजदूरों की बारह बरस की लम्बी साधना और कठोर मेहनत के बाद विशु की विराट् कल्पना साकार हो चली है। हाँ···विराट् कल्पना। पाषाण का एक विशाल रथ—सैकड़ों गज लम्बी चौड़ी है जिसकी पिष्ठ, दुर्ग-प्राचीर से वृहद हैं जिसके बारह चक्र, और गिरि से विपुल हैं जिसके सात भव्य घोड़े। और मन्दिर के भीतर है एक अनोखा चमत्कार—सूर्यभगवान् की जाज्वल्यमान् मूर्त्ति, चुम्बक पत्थर के आकर्षण से, निराधार, शून्य में, लटकी हुई है।"

स्वयं विशु अपनी कला पर मुग्ध होकर कहता है—"हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। (सोत्साह) वह भूल रहा है कि वह धरती

का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है।...लेकिन...लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से।...मुझे लगता है, जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।"

कोणार्क मान्दिर और उसकी अप्रतिम कला का परिचय नाटक में कई प्रसंगों में मिलता है। इन सबसे यह प्रतीत होता है कि भवन एवं मूर्त्तिकला में उस काल की उन्नति अपने चरम पर थी। उत्कल के शिल्पी अत्यन्त कुशल थे और प्रस्तर-खण्डों पर स्वाभाविक एवं सजीव मूर्त्तियों का निर्माण करने में वे सिद्धहस्त थे—इस प्रकार के स्पष्ट संकेत नाटक में हैं।

(घ) **राजनीतिक परिस्थितियाँ**—'कोणार्क' नाटक में राजनीतिक परिस्थितियों का भी थोड़ा-बहुत चित्रण हुआ है। नाटक में यह स्पष्ट कहा गया है कि महाराज नरसिंहदेव परम प्रतापी नरेश थे और वे यवनों को पराजित करने बंग-प्रदेश में गए थे। उनके जाते ही दण्डपाशिक के अधिकार अपने हाथ में लेकर महामात्य राजराज चालुक्य ने जनता, मजदूर एवं शिल्पियों पर क्रूर अत्याचार प्रारम्भ कर दिए। यहाँ तक कि निहत्थे एवं सैन्य विहीन नरसिंहदेव के विरुद्ध उसने विद्रोह कर दिया और उनके पास अधीनता अथवा आत्मसमर्पण का संदेश भेजा। विद्रोही धर्मपद के परामर्श से कलिंग-नरेश ने आत्मसमर्पण नहीं किया और तब चालुक्य द्वारा शिल्पियों का क्रूर संहार हुआ। नरसिंहदेव तो किसी प्रकार बच निकले किंतु शिल्पियों का विनाश होते देख विशु ने ही अपने द्वारा निर्मित सूर्यमन्दिर का ध्वंस कर दिया, जिससे अत्याचारी चालुक्य और उसके सब साथी मन्दिर के मलबे में दबकर मर गए।

उपर्युक्त सभी प्रकार के वातावरण के अतिरिक्त माथुरजी ने तत्कालीन शिल्पियों के रहन-सहन, वस्त्र एवं उनके घरों की सादगी का भी यथाशक्य वर्णन नाटक में किया है। नाटक में प्रयुक्त भाषा भी तत्कालीन देशकाल को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायक हुई है। यथा—अम्ल, त्रिपटधर, छत्र, उष्णीश, मकरकुण्डल, मंजीर तथा दण्डपाशिक आदि।

निष्कर्ष—संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि 'कोणार्क' नाटक में नाटककार ने जितना देशकाल वातावरण प्रस्तुत किया है वह मूल कथानक के अनुकूल और उचित है। समस्त कथावस्तु कोणार्क मन्दिर के प्रांगण में ही घटती है। इसलिए अधिक कुछ चित्रित करने का उसमें अवसर भी नहीं था।

११. कोणार्क : भाषा-शैली

किसी भी साहित्यिक रचना का महत्व उसके अन्य गुणों के साथ ही भाषा-शैली की दृष्टि से भी आंका जाता है। रचना में यदि भाषा-शैली प्रभावी, मार्मिक एवं सहज सम्प्रेषणीय नहीं होगी और उसे शब्दाडम्बर में ही अभिव्यक्ति दी गई हो, तो रचना अपनी अर्थवत्ता खो बैठती है। नाटक भी इसका अपवाद नहीं है। नाटक में यद्यपि भाषा ही नाटककार के उद्देश्य या विचार को दर्शकों-पाठकों तक सम्प्रेषित करने का महनीय कार्य करती है तथापि उसे इतने छिछले स्तर का भी नहीं होना चाहिए कि वह कबाड़ियों की भाषा बनकर रह जाए। बाज़ारुपन से तो भाषा को बचाना ही होगा किन्तु उसे इतना क्लिष्ठ भी नहीं होना चाहिए कि सामान्य पाठक-दर्शक की समझ से परे हो—इसका मुख्य कारण यह है कि नाटक पढ़ने की अपेक्षा मंच पर अभिनीत होने वाली रचना अधिक है और अभिनय उसी नाटक का सफलतापूर्वक संभव है जो समान्य दर्शक की समझ में आ सके। निस्संदेह नाटक की भाषा सहज-सम्प्रेषणीय होनी अपेक्षित है।

'कोणार्क' नाटक की भाषा को लेकर कतिपय नाट्य-समीक्षकों ने अभिनय की दृष्टि से उसे असफल माना है। यह ठीक है कि अभिनय में नाटक की भाषा का बहुत बड़ा हाथ होता है, इसलिए उसे सहज बोधगम्य होना चाहिए, किन्तु यहां पर हमें यह ध्यान रखना होगा कि इस नाटक की कथावस्तु एक ऐतिहासिक घटना से सम्बद्ध है और किसी भी ऐतिहासिक घटना को तब तक उसके सम्पूर्ण परिवेश के साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता जब तक तत्कालीन वेशभूषा, रहन-सहन एवं व्यवहृत भाषा को नाटक में स्थान न दिया जाए। ऐसी दशा में यदि नाटककार ने तत्समप्रधान हिंदी का प्रयोग किया है तो उसने क्या अनुचित किया है? हम तो यही कहेंगे कि इसे नाटककार का दोष कहकर उपेक्षित न किया जाए। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जीवन्तता के लिए यह आवश्यक था कि इस प्रकार की भाषा नाटककार प्रयोग करे।

इस दृष्टि से जब हम आलोच्य नाट्य-कृति का अध्ययन करते हैं तो 'कोणार्क' में हमें निम्नलिखित तीन भाषा-रूपों के दर्शन होते हैं—

१. सरल-स्वाभाविक बोलचाल की भाषा,

२. अलंकृत और काव्यात्मक भाषा,

३. शुद्ध परिनिष्ठित हिंदी खड़ी बोली।

१. सरल-स्वाभाविक बोलचाल की भाषा—नाटककार को अपने नाटक में ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो अपनी सरलता और स्वाभाविकता

के कारण सहज सम्प्रेषणीय हो। भाषागत क्लिष्ठता किसी भी रचना का गुण नहीं है और अभिनेय नाटक की तो यह सबसे बड़ी कठिनाई है। माथुर जी इस तथ्य से भलीभांति परिचित हैं। इसी कारण 'कोणार्क' में उन्होंने अधिकांश सरल और स्वाभाविक भाषा का ही प्रयोग किया है। एक उदाहरण दृष्टव्य है :

विशु : आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली—

चालुक्य : सूचना देता, तो तुम लोगों का भंडाफोड़ कैसे होता ?

विशु : जी ?

चालुक्य : राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्य-कोष का धन नष्ट हो रहा है। न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं न मजदूर। दस दिन हो गये, कलश तक स्थापित न हो सका।

विशु : हम लोग बराबर उसी की चेष्टा में लगे हुए हैं।

चालुक्य : (मुंह बनाते हुए) चेष्टा में लगे हुए हैं···यहां तो मैं देखता हूँ गर्ग्पे हो रहीं हैं। (सहसा धर्मपद पर दृष्टि जाती है, इशारा करते हुए) और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा है ?

नाटक में इस प्रकार की सरल, सुबोध और स्वाभाविक भाषा के सर्वत्र दर्शन किए जा सकते हैं। भाषा में कहीं-कहीं तो उर्दू-फारसी के शब्द भी आ गए हैं।

२. **अलंकृत और काव्यात्मक भाषा**—'कोणार्क' नाटक की भाषा में यह रूप अधिकांश दर्शनीय हो उठा है। नाटक की भाषा में आलंकारिकता और काव्यात्मकता अत्यन्त सुष्ठु रूप में दिखाई देती है। सौम्यश्री, विशु, नर्रासहदेव एवं महेन्द्र के संवादों में भाषा का यह रूप देखा जा सकता है। ऐसी काव्यात्मक भाषा ने इस नाटक की भाव-गरिमा की अभिवृद्धि ही की है। उदाहरणार्थ :

सौम्य : मन्दिर उड़ेगा नहीं। नाट्याचार्य सौम्यश्री के संकेत पर जब नट-मन्दिर में देवदासियाँ नृत्य करेंगी, तो ताल देने के लिए कोणार्क देवालय ही थिरक उठेगा।···ता थई, ता थई था···

विशु : परिहास की बात नहीं है बन्धु !

सौम्य : विशु, तो क्या तुम सच मानते हो कि कोणार्क के ये भारी पत्थर, ये विशालकाय मूर्त्तियाँ गगन-गामी हो जाएंगी।

विशु : (विचारपूर्ण मुद्रा) कह नहीं सकता। पर एक बात अवश्य है। हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है (सोत्साह) वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। लेकिन···लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से।···मुझे लगता है, जैसे अनजाने में ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश

के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।

सौम्य : पृथ्वी और आकाश के संघर्ष की बात फिर सोचना विशु ! उत्कल के पृथ्वीपति को क्रोधाग्नि झेलने का भी कोई प्रबन्ध किया है ?

विशु : महाराज नरसिंहदेव की क्रोधाग्नि ? उसे तो करुणा की फुहारें क्षण-भर में शान्त कर देती हैं।

सौम्य : लेकिन वही फुहारें जब गर्म तवे पर पड़ती हैं तो उसकी जलन और भी बढ़ जाती है और फुहारें छू-मन्तर हो जाती हैं।

३. **शुद्ध परिनिष्ठित हिन्दी खड़ी बोली**—'कोणार्क' नाटक में सर्वत्र शुद्ध परिनिष्ठित हिन्दी का ही प्रयोग हुआ है। इसी कारण उस पर आरोप लगाए जाते हैं। किन्तु वास्तव में देखा जाए तो ऐसा नाटककार ने आवश्यकतावश ही किया है। इसीलिए कहीं तो उसकी भाषा सरल, सजीव और सहज बोलचाल की है और कहीं शुद्ध परिनिष्ठित हिन्दी का प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त उद्धरण को इस संदर्भ में उदाहृत किया जा सकता है।

'कोणार्क' नाटक में प्रयुक्त भाषा-शैली की निम्नांकित विशिष्टाएँ उपलब्ध होती हैं--

(१) **सरलता, रोचकता और प्रभावपूर्णता**--नाटक की भाषा को सरल, रोचक और प्रवाहमयी होना चाहिए और इसी से वह दर्शक-पाठक पर प्रभाव डाल सकती है। प्रवाह का आशय यह है कि पात्रों के मनोभावों को ऐसी भाषा में व्यक्त किया जाए कि उनमें कलकल निनादिनी नदी का-सा प्रवाह परिलक्षित हो। 'कोणार्क' नाटक की भाषा-शैली में यह गुण सर्वत्र उपलब्ध होता है। उसकी भाषा में एक अविच्छिन्न प्रवाह है और अपनी सरलता के कारण वह अत्यन्त रोचक बन गई है। सरल भाषा का उदाहरण हम भाषा-रूपों के अन्तर्गत दे चुके हैं। यहाँ हम उसकी प्रवाहमयता, तज्जन्य प्राभावात्मकता एवं रोचकता का एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें सरलता भी दर्शनीय है :

धर्मपद : यह दास उत्कल-नरेश का आभारी है। यदि बुद्धि और प्रयास के द्वारा बारह सौ व्यक्तियों—

विशु : (उसे रोकते हुए) धर्मपद !

धर्मपद : आचार्य, आपने वचन दिया था कि आज के दिन मुझे आपके सब अधिकार मिलेंगे।

नरसिंह : उसे कहने दो विशु ! हम उसकी बात सुनना चाहते हैं।

धर्मपद : मैं केवल इतना कह रहा था कि मुझे तो सन्तोष इस बात पर है कि मेरे कारण बारह सौ शिल्पी अपंग होने से बच गए।

नरसिंह : युवक, तुम्हारा क्या आशय है ?

सौम्य : महाराज की आज्ञा थी न कि यदि सात दिन के अन्दर कोणार्क पूरा न होगा, तो सारे शिल्पियों के हाथ काट लिए जाएँगे।

नरसिंह : हमारी आज्ञा ?

विशु : तो यह आपकी आज्ञा नहीं थी ? (उत्सुक) कह दीजिए देव, कह दीजिए कि महामात्य राजराज चालुक्य के शब्द झूठे थे।

भाषा की इसी सरलता, रोचकता और प्रवाहपूर्णता के कारण नाटक की भाषा सरस बन गयी है।

(२) **प्रसंगानुकूलता**—नाटक में प्रसंगानुकूल भाषा-शैली का अभिनिवेश उसकी रोचकता को बढ़ाता है। यदि प्रसंग के अनुरूप भाषा-शैली नहीं है तो नाटकीय भाषा में कृत्रिमता आ जाती है। 'कोणार्क' नाटक में भाषा-शैली का यह गुण भी मिलता है। उसमें प्रसंग के अनुकूल कहीं काव्यात्मक भाषा प्रयुक्त हुई है, तो कहीं भावात्मक और तत्सम प्रधान। विक्षोभजनक प्रसंगों में व्यंग्यपरक भाषा का प्रयोग हुआ है। धर्मपद महामात्य चालुक्य द्वारा शिल्पियों एवं साधारण जन के प्रति किए जा रहे अत्याचारों से विक्षुब्ध हैं। इसीलिए जब उसे अवसर मिलता है तो वह महाराज नरसिंहदेव के सम्मुख व्यंग्य के स्वर में अपने हृदय के विक्षोभ एवं तज्जन्य विद्रोह को पूर्णतः व्यक्त कर देता है। उदाहरणार्थ यह संवाद द्रष्टव्य है :

नरसिंह : चालुक्य ने तुमसे कहा ?···ओह··· (कुछ सोचकर फिर किंचित् हँसते हुए।) उन्होंने शायद तुम्हें यूँ ही धमकी दी होगी। उनका अभिप्राय तुम लोग नहीं समझे।

धर्मपद : अभिप्राय को समझना उन लोगों के लिए कठिन नहीं था, जिनके जीवन पर काले बादलों की छाया की तरह महामंत्री का भय फैला हुआ है।

नरसिंह : कौन हैं वे ?

धर्मपद : वे ही जो उच्च सम्मिलित स्वर में कुछ ही देर हुए आपकी जय-जयकार रहे थे, देव—वे अपने को मिटा कर सौंदर्यमयी दुनिया बनाने वाले शिल्पी और मूर्त्तिकार।

नरसिंह : हमें तो उनके स्वर में बहुत उल्लास जान पड़ा।

धर्मपद : देव, झुरमुट की ओट में चहकने वाले पक्षी का स्वर सर्वथा हर्ष-गान ही नहीं होता। आपको क्या मालूम कि उस जय-जयकार के पीछे हा-हा-कार चुपचाप सिसक रहा था।

नरसिंह : युवक, तुम्हारी बातें हमें नयी और अपरिचित सी जान पड़ती हैं।

धर्मपद : देव, ये उनकी बातें हैं जो बोल नहीं सकते।

(३) **व्यंग्यात्मकता**—नाटकीय भाषा-शैली में व्यंग्य के समावेश से जहाँ भाषा में वैचित्र्य आता है, वहाँ चमत्कार भी उत्पन्न हो जाता है। 'कोणार्क' नाटक में भाषा का यह गुण सर्वत्र दिखाई देता है। विशेष रूप से धर्मपद एवं चालुक्य की भाषा इसी श्रेणी के अन्तर्गत परिगणित की जाएगी। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

विशु : आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली।

चालुक्य : सूचना देता तो तुम लोगों का भण्डाफोड़ कैसे होता ?

विशु : जी !

बालुक्य : राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्यकोष का धन नष्ट हो रहा है। न शिल्पी लोग ही ठीक काम कर रहे हैं न मजदूर। दस दिन हो गए, कलश तक स्थापित न हो सका।

विशु : हम लोग बराबर उसी चेष्टा में लगे हुए हैं।

चालुक्य : (मुँह बनाते हुए) चेष्टा में लगे हुए हैं···यहाँ तो मैं देखता हूँ कि गप्पें हो रहीं हैं। (सहसा धर्मपद पर दृष्टि जाती है, इशारा करते हुए) और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा हुआ है ?

धर्मपद : मैं ? मैं आचार्य के सामने शिल्पियों की दुःखगाथा कह रहा था।

चालुक्य : शिल्पियों की दुःखगाथा ? प्रतिहारी, इसे धक्के देकर बाहर निकालो। मुफ्तखोर कही का।

(४) **पात्रानुकूलता**—नाटक की भाषा पात्र के स्तर, चरित्र एवं प्रकृति के अनुकूल होनी चाहिए। 'कोणार्क' नाटक की भाषा में यह गुण भी मिलता है। नाटक का प्रत्येक पात्र अपने स्तर की भाषा बोलता है। यद्यपि पात्र संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का व्यवहार करते हैं तथापि विशु एवं सौम्यश्री की भाषा में जो काव्यात्मकता एवं भावात्मकता परिलक्षित होती है, वह अन्य पात्रों की भाषा में नहीं। इसी प्रकार जन्मजात विद्रोही धर्मपद की भाषा में विद्रोही की एक तीव्रता की ललक दिखाई देती है। यथा—

सौम्य : विशु, सुना तुमने ? (दूर पर थोड़ा हलचल)

विशु : सौमू, मेरे बन्धु ! क्या किसी तरह धर्मा को बचाया नहीं जा सकता ? मैं चालुक्य के आगे भीख मांगूंगा, मेरे बेटे के प्राण···

धर्मपद : (मर्माहत हो कोने में से ही बोलता है। चेहरा तमतमा रहा है।) आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

सौम्य : पिता की ममता का यों तिरस्कार न करो, धर्मपद···!

धर्मपद : ममता ! (बाहर पुनः कोलाहल) वह सुनिए, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझने वाले वीरों की पुकार सुनिए ? क्या मैं उसे अनसुनी कर दूँ ? उन्हें मेरी जरूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है। शायद वह अंतिम आहुति हो। (चलने को उद्यत)

विशु : (आर्त स्वर में) तुम जा रहे हो पुत्र !

धर्मपद : हाँ, मैं जा रहा हूँ। जिस नीच से आप भीख मांगते, मैं उसे भीख दूंगा। अपने प्राणों की भीख। तात ! मैं जानता हूँ—आप कायर नहीं

हैं ! पर मेरा मोह आपको दुर्बल बना रहा है। तात, जाते-जाते आपको याद दिलाऊं कि आप पिता होने के पूर्व शिल्पी हैं, कारीगर हैं !···आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदान्धता टूट पड़ी है। सौन्दर्य को सत्ता पैरों तले रौंद रही है। और कोणार्क—आपका सुनहरा सपना, जिस घोंसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था—वही कोणार्क, एक पामर, अत्याचारी के हाथों का खिलौना बन जाएगा। आतंक के हाथों में जकड़ी हुई कला सिसकेगी। वही कारीगर की सबसे बड़ी हार होगी, सबसे बड़ी हार !

उपर्युक्त प्रमुख विशिष्टताओं के अतिरिक्त 'कोणार्क' नाटक में वाक्य-रचना सम्बंधी भी कुछ विशिष्टताएँ उपलब्ध होती हैं। ये विशेषताएं इस प्रकार हैं :

(क) संक्षिप्त वाक्य-रचना—'कोणार्क' नाटक में वाक्य-रचना का रूप प्राय : संक्षिप्त और चुस्त ही है। न तो उसमें शैथिल्य ही है, और न विस्तार-भाव ही। इससे नाटकीयता में तो अभिवृद्धि हुई ही है, अर्थ-गाम्भीर्य भी आ गया है। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :

महेन्द्र : किन्तु इस निमन्त्रण को महाराज से गुप्त रखने का आशय !

नरसिंह : कौतुक ?

महेन्द्र : नहीं देव !

नरसिंह : तब ?

महेन्द्र : (रहस्यपूर्ण मुद्रा और गहरा स्वर) षड्यंत्र।

नरसिंह : (चौंककर) महेन्द्र !

महेन्द्र : सारी दण्डपाशिक सेना तो महामात्य के अधिकार में है, देव ! मैंने सभी द्वार बन्द कर दिए हैं देव !

नरसिंह : (आवेश से) हम अभी सिंहद्वार पर जाकर स्वयं देखेंगे। तुम्हारा भ्रम है।

महेन्द्र : भ्रम नहीं, देव···वह देखिए।

(ख) प्रभावात्मक लम्बे-लम्बे वाक्य—नाटक में यद्यपि अधिकांश संक्षिप्त वाक्य-रचना ही परिलक्षित होती है किन्तु कतिपय स्थलों पर पात्रों के भावावेश के व्वनन हेतु लम्बे वाक्य भी संयोजित हुए हैं। इन लम्बे वाक्यों द्वारा पात्रों की मानसिक स्थिति भी स्पष्ट होती है और दर्शक भी प्रभावित होता है। यथा—

"धर्मपद : (सोल्लास) तो सुनो शैवालिक ! अपने स्वामी के पास यह अंगारों-भरा संदेश ले जाओ कि कलिंग-नरेश श्री नरसिंहदेव महाराज अत्याचारी विश्वासघातियों की धमकियों की चिन्ता नहीं करते। वे आज अकेले नहीं हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है जिससे धरती थर्रा उठेगी; दीन-निर्धन प्रजा की शक्ति, जो कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरों में दुर्दम सेनाओं का बल भर देगी। कोणार्क का मन्दिर आज दुर्ग का काम देगा, जाओ, हमें चुनौती स्वीकार है !"

(ग) कलात्मकता एवं सुघरता—'कोणार्क' नाटक की वाक्य-रचना बड़ी कलात्मक और सुघर हुई है। कहीं-कहीं तो काफी छोटे-छोटे वाक्यों में नाटककार ने प्रभाव की सृष्टि की है और कलात्मकता को उत्पन्न किया है और कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे वाक्यों द्वारा इस कलात्मकता को उत्पन्न किया है। बीच-बीच में क्रियाहीन वाक्य पात्रों के मनोभावों को सम्प्रेषित करने में बड़े सहायक हुए हैं।

(घ) बिन्दु-चिह्नों का प्रयोग—बिन्दु-चिह्नों का प्रयोग नाटककार दो अर्थों में करते हैं। एक तो काव्यार्थ को अश्लीलता की सीमा पर ले जाकर उसे बिन्दुओं द्वारा व्यंजित करना और दूसरे इन चिह्नों (·····) के द्वारा अर्थ की गूंज को पाठकों-दर्शकों में सम्प्रेषित करना। 'कोणार्क' नाटक में प्रयुक्त बिन्दु-चिह्नों को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इससे पात्र अपने मुख से पूर्ण वाक्य न कहकर भी अपने मनोभावों को ध्वनित कर देता है। उदाहरणार्थ :

विशु : (विचारमग्न) उद्विग्न भी, और ···· और ···· उत्सुक भी।

सौम्य : उत्सुक ?···किसलिए ?

विशु : मैं जानना चाहता हूँ, सौमू, कि··· (कुछ रुककर धीरे-धीरे) कि यह धर्मपद कौन है ?··· (हठात् तीव्र स्वर में) कौन है !··· (मंद विवश स्वर) कौन है ?

नाटककार माथुरजी ने 'कोणार्क' में संस्कृतनिष्ठ किन्तु सरल भाषा-शैली का ही प्रयोग किया है तथापि कहीं-कहीं उर्दू शब्द भी स्वभावतः व्यवहृत हो गये हैं। यथा—मजदूर, जान, मुफ्तखोर, नौबत, जरूरत, जमीन तथा निशाना आदि।

इसके साथ ही कुछ अप्रचलित संस्कृतनिष्ट शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। यथा···अम्ल, जगमोहन, त्रिपटधर, अधोग्रंश, मंजीर तथा कटक मुद्रा आदि।

मुहावरों का प्रयोग—नाटक में भाव-सबलता हेतु यत्र-तत्र बड़े सशक्त और संगत मुहावरों का प्रयोग भी नाटककार ने किया है और कहना न होगा कि इससे भाषागत सौष्ठव में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। कुछ मुहावरे इस प्रकार हैं—पत्थर में जान डाल देना, धरती पर पैर न टिकना, छू-मन्तर होना, दया से पसीजना, अन्याय का हथौड़ा, ग्रस लेना, मुँह छिपाना, पसीने में नहाना, खटना, आँखों का खेल, धूल में हीरे पड़ना, आँखों से ओझल होना, भण्डाफोड़ करना, सिर उठाना, धूल सिर पर चढ़ना, फूंक मारना तथा लोहा मनाना आदि।

अलंकारों का प्रयोग—'कोणार्क' नाटक में यत्र-तत्र काव्यात्मक भाषा के साथ ही अलंकारों की भी छटा दिखाई देती है। इससे भाषा-शैली में सौष्ठव तो आ ही गया है, इसके साथ ही चमत्कार एवं रोचकता में भी अभिवृद्धि हुई है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

उत्प्रेक्षा—'मानो मंजीर बजाकर मैं नर्तकियों को संकेत दे रहा हूँ।'

वक्रोक्ति—'नाट्याचार्य सौम्यश्री के संकेत पर जब नट-मन्दिर में देव-

दासियाँ नृत्य करेंगी, तो ताल देने के लिए कोणार्क देवालय ही थिरक उठेगा।'

उपमा—'वह मदभरे पावस-सी उन्मत्त थी, पुष्पावृत कामिनी-तरु-सी-सम्पन्न।'

मालोपमा—'पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुंगध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है।'

निष्कर्ष—'समग्रतः कहा जा सकता है कि 'कोणार्क' नाटक की भाषा-शैली अत्यन्त उत्कृष्ट, सुघर, कलात्मक और प्रवाहपूर्ण है। उसकी भाषा-शैली अपनी परिवेशप्रयता और व्यंग्यात्मकता से नाटकीयता की अभिवृद्धि करने में पूर्ण सहायक हुई है। यद्यपि रंग-समीक्षकों की दृष्टि में 'कोणार्क' के अभिनय में उसकी भाषा सबसे बड़ी बाधक है किन्तु हमारी दृष्टि में केवल इतने भर से ही कोई कृति अपने महत्व को नहीं खो देती। परिवेश के प्रति प्रतिबद्धता नाटककार के लिए अनिवार्य थी और यही अनिवार्यता इस प्रकार की भाषा को प्रयुक्त करने का प्रधान कारण रही है।

१२. कोणार्क : उद्देश्य

आचार्य मम्मट ने काव्य के मूल प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि साहित्य की रचना यश प्राप्ति, धन-प्राप्ति व्यवहार ज्ञान, अमंगलकर तथ्यों के विनाश, तात्कालिक आनन्द-प्राप्ति तथा कान्तासम्मित उपदेश देने के लिए की जाती है। आचार्य मम्मट का यह स्पष्टीकरण आज भी उतना ही सत्य है जितना उनके जीवन-काल में। श्री जगदीशचन्द्र माथुर की इस कृति के लेखन को भी हम निरुद्देश्य नहीं मान सकते। माथुरजी का 'कोणार्क' नाटक के सृजन के पीछे कौन-सा उद्देश्य रहा है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

'कोणार्क' नाटक में लेखक ने जिस कथा को प्रस्तुत किया है वह बड़े महत्व की होने के साथ ही एक ऐतिहासिक घटना से भी सम्बन्ध रखती है। "ईसा की सातवीं सदी से लेकर १३वीं सदी तक उड़ीसा में अनेक भव्य, विशाल, सुरुचिपूर्ण एवं कलात्मक मन्दिरों का निर्माण हुआ था जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला के साक्षी रूप में खड़े हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ मन्दिर, सूर्यदेवता का देवालय, कोणार्क में स्थित है। कोणार्क के देवालय के विषय में कतिपय ऐतिहासिक तथ्य विचारणीय हैं—एक तो यह कि मध्यकालीन उड़ीसा से मन्दिरों की परम्परा में यह अन्तिम भवन है। इसके बाद न जाने कैसे और क्यों उड़ीसा में उस कोटि और शैली के मन्दिरों का बनना

ही बन्द हो गया और मानो शिल्पियों के कुल ही तिरोहित हो गए।" नाटककार का कथन है कि कोणार्क का सूर्यमन्दिर, जो आज ध्वस्त अवस्था में पड़ा है, अपने आपमें अप्रतिम होते हुए भी इस दशा में क्यों है ? इसी प्रश्न को सुलझाने के लिए लेखक ने उड़ीसा का भ्रमण किया और कई तथ्यों की जानकारी प्राप्त की। इसी संदर्भ में लेखक ने उक्त जानकारियों का विवरण देते हुए अपने नाट्य-सृजन के उद्देश्य को भी स्पष्ट किया है जिसे हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं :

"मैं अपने उड़िया मित्रों से एक धृष्टता के लिए क्षमा-याचना करता हूँ। जिस लोकप्रिय किंवदन्ती के आधार पर उड़िया में श्री गोपबन्धुदास के खण्ड काव्य 'धर्मपद', कार्तिक घोष के नाटक और अन्य रचनाओं का प्रणयन हुआ, मैंने उसका रूप इस नाटक में इतना बदल दिया कि शायद वे उसे पहचान भी न पाएँ, और रुष्ट भी हों कि क्यों मैंने एक ललित और करुण-रस से पगी कहानी को इस रौद्र रूप में प्रदर्शित किया है। मैं अपना अपराध सहज ही स्वीकार करता हूँ। मुझे उस किंवदन्ती के करुण लालित्य ने आकृष्ट अवश्य किया किन्तु जिस विशाल और पुष्ट कल्पना का कोणार्क मन्दिर परिचायक है और जिस संघर्ष-प्रधान युग में उसका निर्माण हुआ, उसके मुकाबिले में मुझे उड़िया किंवदन्ती के भावुक और विवश नायक-नायिका क्षीण जंचे। प्रणय की अठखेलियों और भाग्य के थपेड़ों के आधार पर 'कोणार्क' के खण्डहरों का सहारा ले एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने से मुझे संतोष नहीं हुआ। मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौंदर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है 'कोणार्क' के खण्डन के क्षण में फूट निकला हो। चिन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है, उस पौरुष को मैंने वाणी देने की धृष्टता की है।"

लेखक के इस कथन से स्पष्ट है कि उसने अपनी कल्पना का सहारा लेकर अप्रतिम सौंदर्य के निर्माता शिल्पी के अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और यही उसका उद्देश्य है। लेखक कहना चाहता है कि विश्व-प्रसिद्ध सूर्य-देव के मन्दिर के निर्माण एवं उसके तुरन्त ध्वंस के पीछे कलाकार के गहन अन्तर्द्वन्द्व का ही महान् उद्देश्य छिपा हुआ है। इसी उद्देश्य को प्रस्तुत करने के विचार से लेखक ने 'कोणार्क' नाटक की रचना की है।

इस प्रकार 'कोणार्क' के सृजन के पीछे दो विचार मुख्यतः सामने आते हैं। ये हैं :

१. युगविशेष की कला का चित्रण करना, और
२. कलाकार के अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत करना।

इसके साथ ही गौण रूप में एक उद्देश्य यह भी है कि तत्कालीन राजतंत्रीय व्यवस्था कैसी थी ?

अब हम उपर्युक्त दृष्टि से नाटककार के उद्देश्य पर विचार करेंगे :

१. **युग विशेष की कला का चित्रण करना :** 'कोणार्क' नाटक में जिस कथा को प्रस्तुत किया गया है उस में तेरहवीं शताब्दी में निर्मित प्रख्यात कोणार्क मन्दिर के निर्माण एवं [illegible] की कहानी है। लेखक ने अपनी भूमिका में ही लिखा है कि 'कोणार्क' के देवालय के विषय में कतिपय ऐतिहासिक तथ्य विचारणीय है। एक तो यह कि मध्यकालीन उड़ीसा से मन्दिरों की परम्परा में यह अन्तिम भवन है। इसके बाद न जाने कैसे और क्यों उड़ीसा में उस कोटि और शैली के मन्दिरों का बनना ही बन्द हो गया और मानो शिल्पियों के कुल ही तिरोहित हो गए। दूसरे, उस परम्परा के मन्दिरों में स्थापत्य, कल्पना और कला की विविधता में यह मन्दिर पराकाष्ठा का द्योतक है, मानो वह शैली कोणार्क के निर्माण में अपनी चरमावस्था को पहुँची। तीसरे, जहाँ अन्य मन्दिर पुरी और भुवनेश्वर जैसे नगरों में बनाए गए, कोणार्क के लिए ऐसा स्थान चुना गया, जिसके आस-पास दूर तक आबादी नहीं थी। पुरी से १९ मील दूर समुद्र तट पर यह मन्दिर स्थित है। चौथे, इस मन्दिर के उपपीठ और दीवारों पर अंकित युगल-मूर्तियाँ आधुनिक विचार से अत्यन्त अश्लील हैं और नका उद्देश्य समझ में नहीं आता। पांचवीं और अत्यन्त रहस्यपूर्ण बात यह है कि मध्यकालीन उड़ीसा का कोई मन्दिर इस खण्डित और भग्नावस्था में नहीं है, यद्यपि यही सबके बाद में बना। मन्दिर का मुख्य अंश (विमान) टूटा पड़ा है, यद्यपि और कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि मन्दिर कभी व्यवहार में लाया ही नहीं गया। मन्दिर का मुख्य भाग इस समय पत्थरों का ढेर है। उसका नट मन्दिर भी धराशायी है। विशाल प्रांगण में ध्वस्त मूर्तियाँ और पाषाण खण्ड पड़े हैं। केवल बाकी है विमान से सटा हुआ जगमोहन यानी मण्डप, जो एक विस्तीर्ण मेघी पर दीपक की अकेली लौ की भाँति खड़ा है। इससे एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं सदी तक उत्कल में कला अपने चरम पर थी, जिसके प्रमाण स्वरूप आज भी अनेक मन्दिर वहाँ देखे जा सकते हैं।" कोणार्क उस युग का सर्वाधिक कलात्मक एवं अप्रतिम मन्दिर था। यह महाराज नरसिंहदेव के काल का है जिससे यह ज्ञात होता है कि वह स्वयं तो कला के प्रति आसक्त थे ही, साथ ही उत्कृष्ट कलाकारों का सम्मान भी करते थे।

'कोणार्क' नाटक में लेखक ने इस युग की कलाप्रियता, उसकी उत्कृष्टता एवं युगीन कला के सर्वोत्कृष्ट रूप कोणार्क के सूर्यमन्दिर की कथा का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है ताकि उस युग की कला पर प्रकाश पड़ सके और लोगों को उसकी जानकारी हो सके। युग-विशेष की कला का चित्रण करने का यह लेखकीय उद्देश्य इन पंक्तियों में स्पष्ट ध्वनित होता है—

"हमने पत्थरों में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है।। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्श-

हीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। × × मुझे लगता है, जैसे अनजाने में ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।"

"देखो हमारे कोणार्क देवालय को आंख भर कर देखो। यह मन्दिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियों इसके स्तम्भों, इसकी उपपीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो उनमें मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वासनाएं, मनोरंजन और मुद्राएँ चित्रित हैं।"

"यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है, कि मानो तुमने किसी जौहरी के गढ़े अलंकारों को पाषाण बना दिया हो। और दूर से इस विमान और जगमोहन के शिखर हिमाचल की चोटियों की स्पर्धा करते जान पड़ते हैं।"

इस प्रकार लेखक का यह उद्देश्य रहा है कि वह तत्कालीन कला का विवरण एवं उसकी उपलब्धियों को अपनी नाटकीय कथा के माध्यम से प्रस्तुत करे।

२. **कलाकार के अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत करना**—एक ओर जहाँ लेखक ने तत्कालीन कला का चित्रण करना अपना उद्देश्य बनाया है, वहाँ दूसरी ओर इस चित्रण के माध्यम से कलाकार के युगयुगीन अन्तर्द्वन्द्व को मुखर करने एवं उसका चित्रण करना भी उसका प्रमुख उद्देश्य रहा है। विशु को उस युग का महान् शिल्पी बताते हुए लेखक ने उसी के हाथों विश्वप्रसिद्ध कोणार्क मन्दिर का निर्माण चित्रित किया है। वह अपनी कला के प्रति हृदय से समर्पित है और अपनी लगनशीलता से सूर्यदेव के अप्रतिम मन्दिर का निर्माण करता है। किन्तु कालान्तर में विश्वासघाती महामात्य चालुक्य द्वारा महाराज नरसिंहदेव के साथ विश्वासघात करने एवं मन्दिर पर आक्रमण करने और उस संघर्ष में अपने प्राणप्रिय पुत्र धर्मपद की निर्मम हत्या होते देख विशु का भावुक कलाकार हृदय प्रतिशोधाग्नि में जलने लगता है। उसका अन्तर्द्वन्द्व इतना अधिक उग्र हो उठता है कि आततायियों के विनाश हेतु वह अपनी प्रिय कला-कृति सूर्य मन्दिर का ध्वंस करने को उतावला हो उठता है। कलाकार के इस अन्तर्द्वन्द्व को नाटककार ने कथा के अन्त में प्रस्तुत किया है और इसी अन्तर्द्वन्द्व को सूर्यमन्दिर के ध्वंस का मूल कारण भी स्वीकारा है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"कोणार्क—मेरी निधि···कोणार्क—मेरी सृष्टि—अपावन हाथों में, भ्रष्ट हाथों में ? यह कैसा अभिशाप ! ओ अभागे करीगर, कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार ?···कारीगर की हार !···एं···असंभव, कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा !

× × × हे सूर्यभगवान, हे भुवनभास्कर ! बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया, तो तुम्हारे शिल्पी को

ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रंगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवान् मैं यह कैसे सह सकता हूँ ? तुम मेरे, सारे जगत् के, प्रतिपालक हो; पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हारा निर्माता हूँ। तुम मेरे देव हो। तुम्हें मेरा कहा करना होगा। कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे।...नहीं !! ठीक है न मेरे भगवान् !"

और विशु भावावेश में शिखर पर स्थित चुम्बक पर पहुँच जाता है और उसे तोड़ने लगता है। चुम्बक के टूटते ही चालुक्य आदि सब नष्ट हो जाते हैं तथा मन्दिर भी ध्वस्त हो जाता है। लेखक ने विशु के द्वन्द्वग्रस्त चरित्र के माध्यम से कलाकार के युग-युगीन अन्तस्संघर्ष को ही यहाँ पर चित्रित किया है। इस प्रकार यही नाटककार का सर्वप्रधान उद्देश्य है।

३. **तत्कालीन राजतंत्रीय व्यवस्था का चित्रण करना**—यदि गौण रूप में कहा जाए तो यह भी लेखक का एक उद्देश्य रहा है। नरसिंहदेव राजराज चालुक्य को अपना विश्वस्त महामंत्री समझकर उसे उत्कल का शासन सौंपकर स्वयं लम्बे समय के लिए बंग-प्रदेश में यवनों को पराजित करने चले जाते हैं। यहाँ पर लेखक ने यह दर्शाना चाहा है कि किस प्रकार षड्यन्त्र कर चालुक्य नरसिंहदेव को समाप्त कर स्वयं उत्कल-नरेश बनने की योजना बनाता है और सफल होते-होते रह जाता है। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि तत्कालीन राजतंत्र में सामन्तों एवं श्रेष्ठियों का राजा पर काफी प्रभाव रहता था और राजा इन्हीं से किसी भी विषय पर सलाह लिया करते थे। जैसाकि धर्मपद द्वारा चालुक्य की भर्त्सना करने पर महाराज नरसिंहदेव कहते भी हैं कि 'अपने मंत्रियों को नियुक्त करने या निकालने में हम सामन्तों और श्रेष्ठियों से सलाह लेंगे, शिल्पियों से नहीं।' इसी प्रकार 'राज्य के स्तम्भ तो सामन्त और श्रेष्ठिगण हैं।' इन वाक्यों के द्वारा जैसे लेखक हमें तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का परिचय कराना चाहता है। इस प्रकार यह भी लेखक का एक उद्देश्य कहलाएगा।

निष्कर्ष—सर्वांशतः 'कोणार्क' नाटक के सृजन के पीछे लेखक का यही उद्देश्य रहा है कि वह एक ऐतिहासिक घटना के माध्यम से युग-विशेष की कलागत उत्कृष्टता का चित्रण करने के साथ ही कलाकार के अन्तस्संघर्ष को भी चित्रित करे। श्री सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में कहें तो—"आज के राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष के जर्जर युग में कोणार्क के द्वारा कला और संस्कृति जैसे अपनी चिरन्तन उपेक्षा का विद्रोहपूर्ण संदेश मनुष्य के पास पहुँचा रही है।"

१३. कोणार्क : अभिनेयता

संस्कृत-साहित्य में नाट्य लेखन का उद्देश्य ही उनका अभिनयन था, इसलिए काव्य-शास्त्रियों ने नाटकीय तत्वों में अभिनय को अपने अलग तत्व के रूप में स्वीकृति नहीं दी। संस्कृत साहित्य में नाटक के लिए दृश्य-काव्य शब्द का प्रयोग भी इस तथ्य का द्योतक है कि नाटक है ही रंगमंच के लिए। प्राचीन काल में संस्कृत में जो भी नाटक लिखे गए थे, वे सब रंगमंच पर अभिनीत होते थे। विशाखदत्त, कालिदास, भास, अश्वघोष एवं शूद्रक आदि के नाटक इसके प्रमाण हैं। इस काल में मुद्रण-कला का विकास नहीं हुआ था। इसलिए नाटकीय कथावस्तु को रंगमंच के माध्यम से जन-जन तक सफलतापूर्वक सम्प्रेषित कर दिया जाता था ; किन्तु आधुनिक युग में मुद्रण-कला के प्रसार ने नाटक-साहित्य को दो रूपों में विभक्त कर दिया है। एक ओर वे नाटक हैं जो पाठ्य और अभिनेय दोनों होते हैं और दूसरे ऐसे नाटक भी धड़ल्ले से लिखे जा रहे हैं जिनका आस्वादन केवल पाठक तक ही सीमित है। इसलिए कतिपय विचारक नाटक के लिए अभिनेयता के गुण को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में अभिनेयता का गुण न होने से ही कोई श्रेष्ठ पाठ्य नाटक निकृष्ट नहीं हो सकता। जो भी हो, हम तो यही मानते हैं कि नाटक में यदि अभिनयन का गुण है तो यह श्रेयस्कर ही है क्योंकि इससे उसकी भावसम्प्रेषणीयता को नए आयाम मिलते हैं।

नाटक को यदि पाठ्य-विधा के रूप में मान्यता दे दी जाए तो हमारे रंगमंच को इससे कितनी हानि होगी, यह भी विचारणीय है। एक तो हिन्दी रंगमंच है ही दयनीय दशा में, उसपर यदि उसके लिए नाटक ही नहीं लिखे जाएंगे तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाएगा और कौन कह सकता है कि ऐसी स्थिति में वह फिर नौटंकी में न उतर पड़े। हिन्दी के नाट्यविशारद प्रसादजी तक ने अपने नाटकों में रंगमंच की उपेक्षा की है। उनका मत था कि नाटक को रंगमंच के बंधन को स्वीकार नहीं करना चाहिए। उनकी दृष्टि में रंगमंच नाटक के लिए होता है, नाटक रंगमंच के लिए नहीं ; अर्थात् रंगमंच को नाटक कीं कथावस्तु के अनुकूल अपना विकास करना होगा ; नाटक रंगमंच की सीमाओं में नहीं बंध सकता। किन्तु हम इस तर्क का समर्थन नहीं कर सकते ; क्यों कि इससे नाटककार को मनमानी का अधिकार मिल जाता है, जबकि रंगमंच की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। प्रसादजी ने स्पष्ट लिखा है—"रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो जो व्यावहारिक हो।" सम्भव है

प्रसादजी की यह धारणा समकालीन रंगमंच की असाहित्यिकता के कारण बनी होगी। नाटक-साहित्य का इतिहास बताता है कि ऐसा कभी किसी देश अथवा युग में सम्भव नहीं हुआ। सभी देशों के नाटक रचना के उन्नतिकाल में श्रेष्ठ नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना प्रमुख रूप में रंगशालाओं, दर्शकों के सम्मुख प्रदर्शित करने के लिए ही की थी। इस संदर्भ में संस्कृत काव्य-शास्त्र ही नहीं, पाश्चाय नाटककार ड्यूनेस का अभिमत भी यही है—"मेरा विश्वास है कि नाटक मूलतः रंगमंचीय होते हैं और इसलिए जब तक मेरे नाटक रंग-मंच पर अभिनीत होकर दर्शकों द्वारा नाटक कहलाने के पात्र सिद्ध नहीं होते, मैंने तब तक उन्हें मुद्रित होने की अनुमति नहीं दी।" रंगमंच की इस महत्ता को स्वीकार कर पाश्चात्य विद्वान एल्मर राइस ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"नाटक का मूल सारे शब्द नहीं वरन् क्रिया-कलाप है, नाटक खेलने के लिए ही लिखे जाते हैं।" डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन है—"किसी भी भाँति नाटकों की उत्कृष्टता का प्रश्न और निर्णय बिना मंच के सम्पर्क के नहीं हो सकता। यदि नाटक प्राण है तो मंच उसका शरीर।" 'कोणार्क' के सृष्टा श्री जगदीश-चन्द्र माथुर के भी कुछ ऐसे ही विचार हैं जिन्हें उन्होंने आलोच्य नाटक के अंत में रंगमंच विषयक लेख के अन्तर्गत प्रकट किया है।

वास्तव में नाटक का रूप और उसकी प्रेषणीयता कई अन्य कलाओं के तत्वों से प्रभावित और नियंत्रित होती है। रंगमंच और प्रदर्शन की रूढ़ियाँ, रंग-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था तथा संगीत और नृत्य आदि अनेक कलाओं के तत्व और कला-रूढ़ियाँ नाटक की मूल वस्तु साहित्यिक अंश की प्रेषणीयता का रूप अनुशासित करती हैं और उसे विशिष्ट बनाती हैं। नाटक में रूपकता तथा उसकी प्रेषण-सापेक्षता का अनिवार्य तत्व, उसकी प्रेषणीयता की अन्य विधाओं की साहित्यिक कृतियों की प्रेषणीयता से भिन्न बना देता है। यही कारण है कि नाटक का रसास्वादन करने वाले प्रेक्षक का प्रेक्षा-भाव, काव्य का रसास्वादन करने वाले पाठक के भाव-बोध से नितान्त भिन्न है। नाटक का आस्वादन समूह-परक है जबकि अन्य सभी प्रकार की साहित्यिक कृतियों का आस्वादन व्यक्ति-परक है। नाटक के आस्वादन में मूलरूप से दो स्तर हैं—एक व्यक्ति आस्वादन, का स्तर और दूसरा समष्टि आस्वादन का स्तर।

जहां तक 'कोणार्क' नाटक की अभिनेयता का प्रश्न है, यह नाटक स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। नाटककार ने रंगमंच एवं अभिनय की समस्त सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर 'कोणार्क' नाटक की रचना की है। चूंकि माथुरजी को रंगमंच का पर्याप्त अनुभव है, इसलिए उसका प्रयोग उन्होंने पर्याप्त किया है। 'कोणार्क' उनका प्रख्यात नाटक है कि इसका न केवल सोलह बार पुनर्मुद्रण हो चुका है वरन् भारतवर्ष के अनेक नगरों में इसे मंचस्थ भी किया जा चुका है। लेखक के मतानुसार इस नाटक के मंचन

को लेकर जो कठिनाइयाँ बतायीं गयीं, कालान्तर में उनका संशोधन भी लेखक ने कर दिया।

अब हम अभिनेयता की दृष्टि से 'कोणार्क' की समीक्षा करेंगे। किसी भी अभिनेय नाटक में निम्नलिखित गुणों का होना अपरिहार्य है :

(अ) नाटक का कथानक जटिल न होकर सरल हो।
(ब) उसका आकार संक्षिप्त तथा पात्रों की संख्या कम हो।
(स) उसमें अंकों और दृश्यों की ऐसी योजना न हो कि रंग-सज्जा में व्याघात पड़े।
(द) उसमें अरुचिकर और असम्भव घटनाएँ न हों।
(य) उसमें हास्य-व्यंग्य का पुट हो।
(र) उसके कथोपकथन संक्षिप्त, सरल और सजीव हों।
(ल) उसकी भाषा सरल और प्रवाहमयी हो।
(व) उसमें किसी दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने का प्रयास नहीं किया गया हो।

उपर्युक्त गुणों के आधार पर जब हम 'कोणार्क' नाटक पर दृष्टिपात करते हैं तो उसका कथानक सर्वप्रथम हमारी दृष्टि में आता है। नाटक में जिस कथा-वस्तु को प्रस्तुत किया गया है वह अत्यन्त सरल है। एक सच्चा कलाकार अन्याय एवं छल का कितना बड़ा विरोधी होता है और किस प्रकार प्रतिशोध हेतु अपने ही द्वारा निर्मित भव्य कलात्मक मन्दिर का ध्वंस करता है, इसी रौद्ररसपूर्ण कथा को नाटककार ने बड़े सरल और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कृति में अभिव्यक्ति दी है—और कथावस्तु में दुरुहत्व का बोध कहीं पर भी नहीं होता।

जहाँ तक नाटकीय कथा के विस्तार का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में नाटक पूर्णतः अभिनेय है। नाटक में चित्रित कथा अत्यन्त संक्षिप्त है और उसको दो-ढाई घण्टों में ही रंगमंच पर अभिनीत किया जा सकता है। प्रसादजी के नाटकों की भांति न तो कथा का अत्यधिक विस्तार ही है और न जटिलता ही। नाटक की कथा को आदि, मध्य और अन्त की दृष्टि से तीन अंकों में विभक्त किया गया है और उसकी दृश्य-योजना भी रंगमंच के अनुकूल है। नाटक में केवल दो दृश्य हैं और उनमें भी बहुत थोड़ा अंतर है। निर्देशक की सुविधा के लिए लेखक ने परिशिष्ट में इस ओर कुछ विशिष्ट संकेत भी दिए हैं, जो नाटक को मंचस्थ करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लेखक के विचार यहाँ द्रष्टव्य हैं :

"....सफेद पर्दे के पीछे कुछ दूर पर कार्ड बोर्ड में काटे हुए खण्डहर के मॉडल को रखकर उसकी ओट से पर्दे पर रोशनी फेंकिए, जिससे पर्दे पर मन्दिर की रूप-रेखा की छाया दृष्टिगोचर होगी। जिस सफेद पर्दे पर छाया डाली जाए, वह यवनिका के फौरन बाद होना चाहिए, जिससे रंगमंच के शेष भाग पर

मुख्य दृष्य तैयार रहे और उपक्रम समाप्त होते ही प्रथम अंक के पहले वाक्य सुन पड़ें। यदि आपके पास साधन नहीं हैं, तो छायाचित्र दिखाने के बजाए एक गहरे नीले या काले पर्दे पर खरिया से खण्डहर की रूपरेखा खींच दीजिए। उसी से काम चल जाएगा।"

इसी प्रकार के अन्य कई महत्वपूर्ण निर्देश माथुरजी ने दिए हैं जो कथा-वस्तु के मंचन में बड़े सहायक होंगे।

'कोणार्क' नाटक में कोई भी ऐसी घटना संयोजित नहीं की गयी है जो अरुचिकर अथवा रंगमंच पर प्रस्तुत की जा सकने योग्य न हो सके, वरन् घटनाएँ सहज अभिनेय एवं रोचक हैं और उनमें बहिर्द्वन्द्व एवं अन्तर्द्वन्द्व सुन्दर ढंग से नियोजित है। तात्पर्य यह है कि नाटक में कोई भी प्रसंग ऐसा नहीं है जो नीरस और अरुचिकर होने के साथ रंगमंच के प्रतिकूल हो। तीव्रता से बदलती घटनाएँ दर्शक की जिज्ञासा को बढ़ावा देती रहती हैं और वह निरन्तर उत्तेजन महसूस करता रहता है।

जहाँ तक हास्य-व्यंग्य का प्रश्न है, आलोच्य नाटक की कथावस्तु वीर एवं रौद्ररस से परिपूर्ण है। इसलिए इसमें हास्य की नियोजना संभव नहीं थी। किन्तु कथा के अनुरूप व्यंग्य का समावेश अपनी सम्पूर्णता के साथ नाटक में हुआ है। महामात्य चालुक्य, महाराज नरसिंहदेव एवं धर्मपद के संवादों में व्यंग्य के दर्शन प्रखर रूप में होते हैं। एक उदाहरण देखिए :

विशु : सौम्य, मेरे बंधु ! क्या किसी तरह धर्मा को बचाया नहीं जा सकता? मैं चालुक्य के आगे भीख मांगूगा, मेरे बेटे के प्राण····।

धर्मपद : (मर्माहत हो कोने में से ही बोलता है। चेहरा तमतमा रहा है।) आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

सौम्य : पिता की ममता का यों तिरस्कार न करो, धर्मपद !···

धर्मपद : ममता ! (बाहर पुनः कोलाहल) वह सुनिए, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझने वाले वीरों की पुकार सुनिए। क्या मैं उसे अन-सुनी कर दूं ? उन्हें मेरी जरूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है, शायद वह अन्तिम आहुति हो। (चलने को उद्यत।)

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नाटक के कथोपकथन संक्षिप्त, सरल और सजीव हैं। वास्तव में अपनी संक्षिप्तता, सजीवता, सरलता एवं प्रभाव-क्षमता के कारण ये दर्शकों पर जादू-सा कर देने में समर्थ हैं। इन संवादों से नाटक में जहाँ रोचकता आई है वहाँ उसकी नाटकीयता में भी अभि-वृद्धि हुई है ; जिससे नाटक के अभिनय-पक्ष को बल और क्षमता मिली है। ऐसे प्रयोग नाटकीय चमत्कार पैदा करते हैं। उपर्युक्त उद्धरण से यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है—"कोणार्क नाटक के संवादों में अनुकूलता एवं वाग्-वैदग्ध्य

का सहज ही समावेश हो गया है। विशु के अन्तिम संवादों एवं आत्म-कथनों में जो भावाकुलता है, उससे न केवल नाटकीय कथानक की मार्मिकता में अभिवृद्धि हुई है, वरन् विशु के चरित्र को भी उनसे पूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। विशु के अन्तिम कथनों में जो गहरी नाटकीयता, भाव सम्प्रेषणीयता एवं संवेदनशीलता है, वह कथा को उसकी वास्तविक गरिमा-गम्भीरता देने में सहायक हुई है। इस कथन के साक्ष्य रूप में हम यह उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

"**विशु** : (वह मुद्रा--कभी बैठता है, कभी घूमता है। बाहरी हलचल की उत्ताल लहरें उसे छू नहीं पा रही हैं।) कोणार्क—मेरी निधि···कोणार्क—मेरी सृष्टि—उपावन हाथों में, भ्रष्ट हाथों में ? यह कैसा अभिशाप ! ओ अभागे कारीगर ! कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार ? (पुनः चुप। दूर नेपथ्य में कोलाहल बढ़ रहा है।) कारीगर की हार !···एं··· (उठकर खड़ा होता है।) असंभव, कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा।

विशु : (तेजी के साथ गर्भ गृह के कपाट खोलता है। सूर्यदेवता की मूर्ति कक्ष के बीच पांच हाथ ऊपर निराधार स्थिर है। जाज्वल्यमान् मस्तक और मुकुट। बाकी कक्ष में घना अन्धकार।)

विशु : (साष्टांग अवस्था में रूँधे गले से) हे सूर्यभगवान् ! हे भुवन-भास्कर ! बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रंगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवान् मैं यह कैसे सह सकता हूँ। तुम मेरे, सारे जगत के प्रतिपालक हो, पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हारा निर्माता हूँ। (मस्तक उठाता है। हमें उसके चेहरे का पार्श्व अंश ही दीखता है) तुम मेरे देव हो ! तुम्हें मेरा कहा करना होगा। (उठते हुए) कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे।···नहीं !! (खड़ा हो जाता है) ठीक है न मेरे भगवान् ?"

अभिनेय नाटकों की भाषा इतनी सरल, सरस और रोचक तथा भाव-सम्प्रेष्य होनी चाहिए कि सामान्य दर्शक उसे शीघ्र समझ सके और नाटकीय कथा का पूर्ण आस्वादन ले सके। इस दृष्टि से जब हम 'कोणार्क' नाटक पर विचार करते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि उसमें जो भाषा व्यवहृत हुई है वह सामान्य जन की भाषा न होकर एक विशिष्ट तत्सम प्रधान भाषा है। सम्भवतः इसीलिए कई नाट्य-समीक्षकों ने भाषा का सवाल उठाकर आलोच्य नाटक पर तीव्र प्रहार किए हैं। यह ठीक है कि अभिनय में नाटक की भाषा का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसीलिए उसे सहज बोधगम्य होना चाहिए किन्तु यहाँ पर हमें यह ध्यान रखना होगा कि इस नाटक की कथावस्तु का

सम्बन्ध एक ऐतिहासिक घटना से सम्बद्ध है और किसी भी ऐतिहासिक घटना को तब तक उसके सम्पूर्ण परिवेश के साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता जब तक तत्कालीन वेश-भूषा, रहन-सहन एवं व्यवहृत भाषा को नाटक में स्थान न दिया जाए। ऐसी दशा में यदि नाटककार ने तत्सम प्रधान हिन्दी का प्रयोग किया है तो उसने क्या अनुचित किया है ? क्या तेरहवीं शती की किसी घटना को आज की भाषा में व्यक्त करने से वह वातावरण निर्मित हो सकता है जो नाटक के अभिनय हेतु अपरिहार्य है ? हम तो यही कहेंगे कि इसे नाटककार का दोष कहकर उपेक्षित न किया जाए। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जीवन्तता के लिए यह आवश्यक था कि इस प्रकार की भाषा नाटककार प्रयोग करें। यद्यपि नाटककार ने कुछ ही स्थानों पर इस प्रकार की भाषा व्यवहृत की है अन्यथा अधिकांशतः सामान्य भाषा का ही प्रयोग हुआ है। मुहावरों के प्रयोग ने उसे एक विशिष्ट भाव-गरिमा प्रदान की है। नाटक की भाषा सर्वथा पात्रानुकूल है और उनकी मनोदशा एवं अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्ति देने में सक्षम है। भाषा में गुरु-गम्भीरता और तीखे व्यंग्य माथुरजी की भाषा की विशेषता है और कतिपय स्थलों पर भावात्मक भाषा तो उसे विशिष्ट ही बना देती है।

नाटककार ने जिस कथा को नाटक में प्रस्तुत किया है उसमें किसी गहन दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने का उपक्रम भी दिखाई नहीं देता। कथा का मुख्य विषय कोणार्क के मन्दिर के ध्वंस को लेकर है कि किस प्रकार और किन परिस्थितियों में महान् शिल्पी द्वारा निर्मित अपूर्व कलात्मक सूर्यमन्दिर का अपने ही हाथों ध्वंस हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाटक में कोई दार्शनिक समस्या है ही नहीं।

निष्कर्ष—कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि 'कोणार्क' नाटक अभिनेयता की कसौटी पर पूर्णतः खरा उतरता है। उसमें रंगमंच के वे सभी गुण हैं जिनके कारण कोई भी नाटक मंच पर अभिनीत हो सकता है। 'कोणार्क' नाटक का सफल मंचन देश के अनेक नगरों में हो चुका है जो अभिनेयता की दृष्टि से उसकी उत्कृष्टता की ही सूचक है।

महत्वपूर्ण स्थलों की व्याख्याएं

[१] ज्योतिषी के वचन·····दिया है। [पृष्ठ १६]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के प्रथम अंक से अवतरित है। उत्कल राज्य का प्रधान शिल्पी तथा कोणार्क का निर्माता विशु मुख्य पाषाण कोर्त्तक राजीव से कहते हैं कि वे अम्ल के ऊपर त्रिपटधर कब स्थापित कर पाएँगे। राजीव उन्हें बतलाता है कि राजनगरी के ज्योतिषी भानुदत्त का कहना है—तभी बीच में विशु का मित्र और प्रौढ़ शिल्पी मुकुन्द कहता है कि ऐसी सारहीन भविष्यवाणियाँ विश्वास करने योग्य नहीं हैं। विशु राजीव से पूछता है कि ज्योतिषी क्या कहता है। मुकुन्द विशु को बताता है कि कोणार्क देवालय का विनाश हो जाएगा। यह कथन सुनकर विशु कहते हैं :

व्याख्या—बंधु ! ज्योतिषी ने कोणार्क के विषय में जो वचन कहे हैं, वे निरर्थक नहीं हैं। मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि इस मन्दिर का विनाश होकर ही रहेगा। इस प्रकार की आशंकाएँ निरन्तर मेरे मन में उठती रहती हैं। हमने पत्थरों को अपनी कला के द्वारा एक नया रूप प्रदान किया है। हमने इन पत्थरों में प्राणों का संचार किया है। इन मूर्त्तियों को देखकर कोई भी मंत्र-मुग्ध हो सकता है। इन पत्थरों को गति मिल गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूर्त्तियों में अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि हो गई है। वह इस सम्बन्ध में भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। इस विषय में उसे गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते हैं। कोणार्क का यह मन्दिर पत्थरों को तराश कर बनाया गया है। यह पत्थर का मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से पवन के सदृश गतिमान प्रतीत हो रहा है। इसके अतिरिक्त यह किरण की भाँति स्पर्श और सुगंध की भाँति सर्वव्यापी हो रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोणार्क मन्दिर का अलौकिक सौंदर्य निस्संदेह प्रशंसनीय है। इतना होते हुए भी धरती इसे ईर्ष्या से जकड़े हुए है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम शिल्पियों ने अनजाने ही पृथ्वी और आकाश में भीषण संघर्ष की परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। अतः यह कोणार्क मन्दिर ऐसी स्थिति में कहाँ तक सुरक्षित रह सकेगा। मैं स्वयं इस विषय में चिन्तित रहता हूँ कि कोणार्क मन्दिर का क्या होगा ?

विशेष—[१] भाषा प्रभावशाली एवं प्रवाहमयी है।
[२] संवाद नाटकीयता से युक्त हैं।

[२[वह सारे जीवन·····तो जीवन है [पृष्ठ २६]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के प्रथम अंक से अवतरित है। राजीव धर्मपद का महाशिल्पी विशु से परिचय कराता है। विशु धर्मपद से पूछते है कि इतनी छोटी-सी आयु में उसने किस गुरु से शिल्पकला की शिक्षा प्राप्त की है। यह सुनकर धर्मपद कहता है कि किसी से भी नहीं। वह शिल्पी इसलिए बना क्योंकि वह जीवित रहना चाहता था। उसके लिए कला जीवन का साधन है। धर्मपद का यह कथन सुनकर महाशिल्पी विशु धर्मपद को कला के विषय में बतलाते हैं :

व्याख्या—वास्तव में कला हमारे संपूर्ण जीवन का प्रतिबिम्ब है। कला में हमारे जीवन को प्रतिबिम्बित किया जाता है। कला ही एक ऐसा श्रेष्ठ माध्यम है जिसके द्वारा कलाकार हमारे सारे जीवन को मूर्त्त रूप प्रदान करने में समर्थ होता है। इसका सशक्त प्रमाण यह कोणार्क का देवलाय है। इस देवालय को आँखें भरकर देखो। तुम्हें कला के विषय में पूर्णतया ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। यह मात्र एक मन्दिर ही नहीं है अपितु सम्पूर्ण जीवन की गति का रूपक है। इस मन्दिर में जीवन की समस्त गतिविधियाँ विद्यमान हैं। इस मन्दिर के स्तम्भों, इसकी उपपीठ तथा अधिस्थान में हमने जो मूर्त्तियाँ अंकित की हैं उन्हें तुम ध्यान से देखो। तुम्हें जीवन की गति का आभास मिलेगा। इन मूर्त्तियों में मनुष्य के समग्र कर्मों, उसकी संपूर्ण वासनाएँ एवं इच्छाएँ, मनोरंजन तथा मुद्राएँ चित्रित हैं। यही तो जीवन है। इन मूर्त्तियों में सम्पूर्ण जीवन अंकित है।

विशेष—[१] सशक्त और प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग ध्यातव्य है।
[२] शैली विचार-प्रधान एवं विचारोत्तेजक है।

[३] जीवन के आदि·····जीवन अधूरा है। [पृष्ठ २७]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के प्रथम अंक से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में धर्मपद विशु से कहता है कि वह शृंगार-मूर्त्तियों को देखते-देखते थक गया है। यह सुनकर सौम्यश्री उससे कहता है कि यह बात किसी युवती के समक्ष नहीं कहना अन्यथा उसे अविवाहित रहना पड़ेगा। इस पर आचार्य विशु आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि वह उन लोगों में से है जो इन प्रणय-मूर्त्तियों में अश्लीलता देखते हैं। धर्मपद, वास्तव में जीवन के आदि और उत्कर्ष तुम नहीं देखते हो। यह सुनकर धर्मपद आचार्य विशु से कहता है :

व्याख्या—जीवन में प्रणय की मूर्त्तियाँ ही आदि एवं उत्कर्ष नहीं हैं। इनके अतिरिक्त भी इस संसार में और कुछ विद्यमान है, जिसे विस्मृत नहीं करना चाहिए। जीवन के आदि तथा उत्कर्ष के मध्य एक और सीढ़ी है जिसे जीवन का संघर्ष कहा जा सकता है। आचार्य ! आप मेरे अपराध को क्षमा करेंगे। आप की कला उस संघर्ष को विस्मृत कर गई है क्योंकि आपने अपनी

मूर्त्तियों में जीवन के संघर्ष को अंकित नहीं किया है। वह भी अपने जीवन से पृथक नहीं है। मैं आपके द्वारा अंकित इन मूर्त्तियों का जब अवलोकन करता हूं तब मुझे आश्चर्य होता है। मैं जब इन मूर्तियों में बंधे रसिक युगलों को देखता हूँ तब मुझे अनायास ही खेतों में परिश्रम करते हुए, पसीने में नहाते हुए किसानों का स्मरण हो आता है। उनके संघर्ष को आपने अपनी मूर्त्तियों में क्यों नहीं अंकित किया है। आपकी इन मूर्त्तियों को देखकर मुझे कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की याद आ जाती है। इनके अतिरिक्त मुझे उन लकड़हारों की याद आती है जो दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर लकड़ियाँ काटते हैं और अत्यधिक कठिनाई से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इन लोगों के बिना जीवन नितान्त अधूरा है। इन लोगों के संघर्ष को भी मूर्त्तियों में चित्रित करना चाहिए था। मेरे विचार से वास्तविक कला यही है।

विशेष—प्रस्तुत पंक्तियों में नाटककार श्री जगदीशचंद्र माथुर ने मार्क्सवादी विचारधारा को अभिव्यक्त किया है। यही कारण है कि धर्मपद सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ उपरोक्त कथन कहता है।

[४] मैं तो एक·····अकाल पड़ रहा है [पृष्ठ २७-२८]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के प्रथम अंक से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में धर्मपद आचार्य विशु से कहता है कि उन्होंने जीवन के संघर्ष को अपनी मूर्त्तियों में अंकित नहीं किया है। आचार्य विशु उसे समझाते हैं कि कला की पूर्ति चयन में है। धर्मपद उनसे कहता है कि आज के शिल्पी की आंखें वहाँ नहीं पड़ती हैं, जहाँ धूल में हीरे छिपे पड़े हैं। यह कथन सुनकर राजीव कहता है कि धर्मपद तर्क-निपुण है। धर्मपद उन्हें बताता है कि वह तर्क करने नहीं आया है। वह आगे कहता है :

व्याख्या—मैं आपका ध्यान एक ऐसे संसार की ओर खींचना चाहता हूँ जोकि आपके समीप होते हुए भी आपकी आंखों से ओझल हो गया है। मेरे विचार से आपने कभी इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार नहीं किया है। यही कारण है कि आपने कोणार्क मन्दिर में प्रणय में रत प्रेमियों की मूर्त्तियों का ही अंकन किया है। आप इस मन्दिर के निर्माण में ही व्यस्त हैं जिसके कारण आप वास्तविकता से अपरिचित हैं। आपको किसी ने भी राज्य की परिस्थितियों से अवगत नहीं कराया है। इस मन्दिर में अनेक वर्षों से बारह सौ से अधिक शिल्पी कार्य कर रहे हैं। इन शिल्पियों में ही कितने शिल्पियों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? इन लोगों का क्या दुःख है और किन-किन कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं—इनके संबंध में आप नितान्त अनभिज्ञ हैं। आप क्या यह जानते हैं कि महामात्य के अत्याचारों को ये लोग सहन कर रहे हैं ? महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन को छीन लिया है। इसके अतिरिक्त अनेक शिल्पियों की स्त्रियों को न चाहते हुए भी दासियों की भाँति काम करना पड़ा

है। यही नहीं, इधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है जिसका सामना वे लोग कर रहे हैं और राज्य की ओर से किंचित् मात्र भी सहायता उन्हें नहीं मिल रही है। ऐसी परिस्थितियों में प्रेममयी मूर्त्तियों का निर्माण करना कहाँ तक उचित है।

विशेष—[१] प्रस्तुत अवतरण में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का चित्रण हुआ है।

[२] भाषा सहज, सरल एवं प्रभावपूर्ण है।

[५] मगर यह भी···मिले होते तो। [पृष्ठ २८]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचंद्र माथुर द्वारा विरचित 'कोणार्क' नाटक के प्रथम अंक से अवतरित है। धर्मपद आचार्य विशु को शिल्पियों की दयनीय स्थिति के विषय में अवगत कराता है। विशु उससे कहते हैं कि वे लोग यह सब जानते हैं किन्तु राज्य की बातों में हस्तक्षेप करना शिल्पियों के लिए अनुचित है। आचार्य विशु के इस कथन को सुनकर धर्मपद उनसे कहता है :

व्याख्या—हे आचार्य ! आपकी दृष्टि में यह अनुचित हो सकता है परन्तु जहाँ तक मेरा विचार है, ऐसी परिस्थितियों में सभी शिल्पियों को सजग होकर इस कठोर परिस्थिति का सामना करते हुए राज्य में व्याप्त अन्याय एवं अत्याचार को समाप्त करना चाहिए। आपका कथन किसी सीमा तक ठीक हो सकता है कि राज्य की बातों में शिल्पियों का हस्तक्षेप करना अनुचित है किन्तु यह भी तो शिल्पियों के लिए उचित नहीं है जबकि चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हों। एक ओर महामात्य के द्वारा प्रजा पर अत्याचार किया जा रहा है और दूसरी ओर अकाल से ग्रस्त होकर लोग भीषण कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित स्थान में यौवन और विलास की मूर्तियाँ बनाता रहे—किसी भी चिन्तनशील और जागरूक शिल्पी के लिए यह उचित नहीं है। यदि मुझे महाशिल्पी के अधिकार प्राप्त हुए होते तो निश्चित रूप से यह परिस्थिति ही उत्पन्न नहीं होती।

विशेष—लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण यहाँ ध्यातव्य है।

[६] यहाँ निकट से···जान पड़ते हैं। [पृष्ठ ४०]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचंद्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के द्वितीय अंक से अवतरित है। आचार्य विशु महाराज नरसिंहदेव के कोणार्क मन्दिर में प्रवेश करने पर स्वागत करते हैं। महाराज नरसिंहदेव महाशिल्पी आचार्य विशु से कहते हैं कि कोणार्क को पूरा करके उन्होंने उनका और उत्कल का गौरव बढ़ाया है। विशु उनसे कहते हैं कि वही गौरव तो पत्थर के शृंगार में निखरा है। यह कथन सुनकर महाराज नरसिंहदेव आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं :

व्याख्या—इन मूर्तियों को यहाँ निकट से अवलोकन करने पर तो यही

लगता है कि ये पत्थर की नहीं हैं। इनको देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे तुमने किसी जौहरी के गढ़े अलकारों को प्रस्तर में परिवर्तित कर दिया है। ये नि:संदेह आकर्षक और अनुपम हैं, जो इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ हैं। इनमें निश्चित रूप से असीम सजीवता विद्यमान है। इसके अतिरिक्त मन्दिर के विभिन्न अंग भी अत्यधिक सुन्दर बन पड़े हैं। यही कारण है कि दूर से इस विमान तथा जगमोहन के शिखर हिमालय की चोटियों की स्पर्धा करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मन्दिर के ये दोनों अंग इतनी कलात्मकता से गढ़े हुए हैं कि हिमालय की चोटियों की स्पर्धा करते हुए लगते हैं।

विशेष—[१] प्रसंगानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है।

[२] संवाद नाटकीयता से युक्त हैं।

[७] विह्वल हम हो·····जो रुक सकते। [पृष्ठ ४१]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर लिखित 'कोणार्क' के द्वितीय अंक से अवतरित है। महाराज नरसिंहदेव 'कोणार्क' की कलाकृतियों को देखकर अत्यधिक प्रभावित होते हैं। वह महेन्द्र से कहते हैं कि राजकवि विश्वनाथ से कहो, अपने साहित्य दर्पण में कोणार्क का प्रतिबिम्ब खोजें। महेन्द्र उनसे कहता है कि सागर तो कोणार्क का प्रतिबिम्ब है। महाराज नरसिंहदेव कहते हैं कि उन्होंने महामात्य को आदेश दिया था कि कोणार्क के उद्घाटन पर संपूर्ण वैभव राज्य में प्रदर्शित किया जाए। आचार्य विशु यह सुनकर कहते हैं कि महाराज की कला-मर्मज्ञता उन्हें विह्वल किए दे रही है। इस कथन का उत्तर देते हुए महाराज नरसिंहदेव कहते हैं :

व्याख्या—आचार्य विशु ! वास्तव में कोणार्क के अद्भुत एवं आकर्षक सौंदर्य से हम अभिभूत हो रहे हैं। कोणार्क की मूर्त्तियों ने हमें विह्वल कर दिया है। हम स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे कि कोणार्क इतना अधिक सुन्दर बनेगा। हम जब कोणार्क से बहुत दूर थे और इस मन्दिर की गगनचुम्बी पताका का हमने अवलोकन किया तब हम व्यग्र हो उठे। हम उस क्षण यही सोच रहे थे कि हम शीघ्र से शीघ्र कोणार्क मन्दिर पहुँचें और समीप से इसको देखें। हमने अपने महामंत्री से कहा कि हम शीघ्र ही कोणार्क पहुँचना चाहते हैं किन्तु बीच में ही रथ की धुरी टूट गई। ऐसी स्थिति में महामंत्री उनके साथ नहीं आ सके ; कारण. रथ की धुरी को ठीक करने में कुछ समय लग सकता था। हम वहाँ पर चाहते हुए भी नहीं रुक सके। हमारे महामंत्री पीछे ही रुक गए किंतु हम अपने को धैर्य में नहीं बाँध सके। यही कारण है कि हम उनके साथ नहीं रुक सकते थे।

विशेष—[१] भाषा स्वाभाविक एवं प्रभावशाली है।

[२] संवाद पात्रानुकूल एवं स्थिति के अनुरूप हैं।

[८] ऐसे समय में·····पूरा कर दिया। [पृष्ठ ४३]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' के द्वितीय अंक से अवतरित है। महाराज नरसिंहदेव कोणार्क मन्दिर को देखकर अत्यन्त प्रभावित होते हैं और महाशिल्पी विशु का समादर करना चाहते हैं किन्तु विशु उन्हें बतलाते हैं कि इस सम्मान का वास्तविक अधिकारी धर्मपद है। महाराज नरसिंहदेव को इस पर विश्वास नहीं होता है। विशु उन्हें बतलाता है कि मन्दिर के ऊपरी भाग त्रिपटधर को स्थापित करने में विलम्ब हो रहा था जिसकी सूचना आपको मिल गई थी। यही कारण है कि इस समस्या ने उनका अपहरण कर लिया था। राजीव भी विशु के कथन की पुष्टि करता है। आचार्य विशु पुनः महाराज नरसिंहदेव से कहते हैं :

व्याख्या—हम लोग इस समस्या को सुलझाने में अपने को पूर्ण रूप से असमर्थ पा रहे थे। हम प्रायः यह सोचते रहते थे कि किस भांति मन्दिर के ऊपरी भाग में त्रिपटधर को स्थापित किया जाए। हमारे ऐसे निराशा से पूर्ण समय में धर्मपद नामक यह युवक वर्षा ऋतु की वायु की भांति तृपित भूमि में आ पहुँचा। इसने हमारी समस्या को समझा और हमारी निराशा को समाप्त कर दिया। इसने हमें आश्वासन दिया कि वह निश्चित रूप से यह कार्य कर सकता है। यह कथन सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। धर्मपद की अद्वितीय ओर अद्भुत सूझ निश्चित रूप से मेरे लिए आकाशवाणी बनी। मैं पूरी तरह से इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ हो गया था परन्तु धर्मपद की युक्ति के द्वारा मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे किसी खोये हुए राही का पथप्रदर्शन हो गया हो। मैं निःसन्देह धर्मपद की प्रशंसा करना चाहता हूँ क्योंकि केवल सात दिनों में ही इसके निरन्तर एवं अथक परिश्रम तथा प्रतिभा ने कोणार्क के शिखर को पूर्ण कर दिया जिसको मैं इतने समय में भी पूरा नहीं कर सका था। यही कारण है कि आदर का पात्र तो यह युवक धर्मपद ही है। इसीलिए यह रत्नमाला इस युवक को ही पहनानी चाहिए।

विशेष—[१] संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग हुआ है।
[२] शैली विचार प्रधान है।

[९] बहुत हुआ, बहुत·····नरेश श्री नरसिंहदेव। [पृष्ठ ५२]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के द्वितीय अंक से अवतरित है। महाराज नरसिंहदेव के राज्य पर राजराज चालुक्य के दण्डनायक ने अपना अधिकार कर लिया है। महाराज नरसिंहदेव को आश्चर्य होता है कि उन्हें इस दुरभिसन्धि का आभास नहीं था। शैवालिक महाराज नरसिंहदेव को कहता है कि वह महामात्य चालुक्य के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दें। महाराज नरसिंहदेव इसके लिए तत्पर नहीं हैं। आचार्य विशु का कहना है कि महाराज बंदी हों—यह अनाचार कैसे हो सकता है।

शैवालिक विशु से कहता है कि वह शिल्पी है—ऐसी स्थिति में उसे कला-साधना करनी चाहिए। शैवालिक के इस कथन को सुनकर धर्मपद उससे कहता है :

व्याख्या—शैवालिक ! तुम महामात्य चालुक्य के दूत हो। तुम अब शान्त रहो। तुम्हारे कथन को सुनते हुए बहुत देर हो गई है। तुमने अभी तक गम्भीरता से विचार नहीं किया है। हम लोग कलाकार हैं—भेड़-बकरियाँ नहीं हैं जो तुम चाहो जिसके हवाले हमें कर दो। हम भी सोचने-समझने की शक्ति रखते हैं। हमारे विषय में निर्णय लेने वाले तुम कौन हो ? वास्तव में आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला होना है। चालुक्य के आदेशानुकूल जिस सिंहासन को तुम आज डांवाडोल कर रहे हो, वह हमारे ही कधों पर टिका हुआ है। हम इसका निर्णय स्वयं करेंगे कि उस सिंहासन के ऊपर क्या वह व्यक्ति बैठेगा जिसके कारण राज्य के सैंकड़ों घर उजड़ चुके हैं। इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति ने कोणार्क के सौंदर्य-निर्माता शिल्पियों को अत्यन्त दयनीय अवस्था में समझ रखा है, जिसने शिल्पियों को ठीकरों अथवा मिट्टी से तुच्छ मानकर ठुकराया है, उस महामात्य चालुक्य से जाकर कह दो कि यह कलिंग देश हमारा है। इस कलिंग देश के अधिपति हमारे प्रजा-वत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव हैं जो अपनी प्रजा के हित की चिन्ता करते हैं।

विशेष—[१] महाराज नरसिंहदेव की प्रजा-वत्सलता का चित्रण हुआ है।
[२] धर्मपद के कथन में उसकी निर्भीकता अभिव्यंजित है।

[१०] **तो सुनो शैवालिक·····चुनौती स्वीकार है।** [पृष्ठ ५३]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के द्वितीय अंक से अवतरित है। महामात्य चालुक्य का दूत शैवालिक महाराज नरसिंहदेव से आत्मसमर्पण के लिए कहता है। महाराज नरसिंहदेव इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। इसके अतिरिक्त महाशिल्पी विशु को भी यह स्वीकार्य नहीं है। धर्मपद महाराज नरसिंहदेव से आज्ञा चाहता है कि वह चालुक्य की उद्दण्डता को चुनौती दे सके। धर्मपद के कथन को सुनकर महाराज नरसिंहदेव कहते हैं—"हम मृत्यु पसंद करेंगे, लेकिन उस नीच पामर चालुक्य के आगे घुटने नहीं टेकेंगे।" यह सुनकर धर्मपद उल्लास भरे स्वर में कहता है—

व्याख्या—शैवालिक ! तुम ध्यान से सुनो और अपने स्वामी चालुक्य के पास हमारा यह संदेश ले जाओ कि हमें उसका प्रस्ताव स्वीकार नहीं है। तुम्हारे नए स्वामी को यह अंगारों से परिपूर्ण संदेश है कि कलिंग देश के नरेश श्री नरसिंहदेव महाराज अत्याचार करने वाले और विश्वासघात करने वाले नीच पुरुषों की धमकियों की चिन्ता नहीं करते हैं। उन्हें इस प्रकार भयभीत नहीं किया जा सकता है। उनमें अपार साहस है। आज इस कठिन परिस्थिति में वह अकेले नहीं हैं, जो चालुक्य की धमकी में आकर आत्मसमर्पण कर देंगे। आज उनके पीछे ऐसी शक्ति है जिसके पीछे चलने से धरती भी थर्रा उठेगी। आज

उनके पीछे कलिंग राज्य की दीन एवं निर्धन प्रजा की शक्ति है, जो कोणार्क मन्दिर के शिल्पियों तथा मजदूरों में दुर्दम सेनाओं का बल भर देगी। प्रजा की इस असीम शक्ति के बल पर हम चालुक्य को निश्चित रूप से सामने से मजा चखाने में समर्थ हैं। यही कारण है कि हमारी योजना के अनुसार कोणार्क का मन्दिर आज दुर्ग का काम देगा। तुम अपने स्वामी चालुक्य से जाकर कह दो कि हमें उनकी चुनौती स्वीकार है। हम उनका सामना मरते दम तक करेंगे। हमारा साहस अभी समाप्त नहीं हुआ है। हम कठिनाइयों का सामना करना जानते हैं। ऐसी परिस्थिति में तुम्हारे चालुक्य से हम भयभीत होने वाले नहीं हैं।

विशेष—[१] भाषा ओजपूर्ण एवं प्रभावशाली है।
[२] संवाद विषय और पात्रानुकूल हैं।

[११] वे सौंदर्य के विधाता·····बना दिया है। [पृष्ठ ५६-५७]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के द्वितीय अंक से अवतरित है। महाराज नरसिंहदेव धर्मपद को 'कोणार्क' का दुर्गपति बनाते हैं। धर्मपद महाराज नरसिंह को आदेश देता है कि वह मन्दिर के पिछले भाग में ही रहें क्योंकि वह एक सुरक्षित स्थान है। धर्मपद महाराज नरसिंहदेव को बतलाता है कि हमारे निर्देशक और सेनापति बाहर खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। महाराज नरसिंहदेव धर्मपद से पूछते हैं कि वे कौन हैं। यह सुनकर धर्मपद उनसे कहता है—

व्याख्या—वास्तव में हमारे निर्देशक और सेनापति वे हजारों शिल्पी हैं जो सौंदर्य के विधाता हैं, जिनकी आत्मा कोणार्क मन्दिर की मूर्तियों में विद्यमान है, जिन्होंने अपने खून-पसीने से कोणार्क का निर्माण किया है। वे किसी भी प्रकार से कलिंग-नरेश को इस स्थिति में नहीं देख सकते हैं। वे निश्चित रूप से शत्रु का संहार करने में सहायक सिद्ध होंगे। कारण, उनमें अदम्य साहस विद्यमान है। यही कारण है कि उन हजारों शिल्पियों को इस विषय में चिन्ता है। उनकी आत्मा की तड़पन ही कलिंग-नरेश की अचूक शक्ति है। इन शिल्पियों के होते हुए कोई भी कलिंग-नरेश महाराज नरसिंहदेव को किंचित् मात्र भी क्षति नहीं पहुंचा सकता है। उन शिल्पियों की सुकोमल भावनाओं और भाव-तरंगों को अत्याचारी की ठोकर ने आज महारोष का उत्ताल सागर बना दिया है, जिसका वेग अत्यधिक तीव्र होता है।

विशेष—[१] संवाद सारगर्भित, अर्थपूर्ण एवं संक्षिप्त हैं।
[२] भाषा प्रवाहपूर्ण और प्रभावशाली है।

[१२] शबर अटवीका से···सुन पाते हैं। [पृष्ठ ६४]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचंद्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के तृतीय अंक से अवतरित है। धर्मपद अपनी बाल्यावस्था के सम्बन्ध में सौम्यश्री और आचार्य विशु को बतलाता है कि किस प्रकार उसकी माँ ने

मजदूरी करके उसका पालन-पोषण किया था। धर्मपद के कथन को सुनकर सौम्यश्री उससे पूछते हैं कि क्या उसे स्मरण है कि वह लोग कहाँ से नगर में आए थे। सौम्यश्री के प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मपद उन्हें बतलाता है :

व्याख्या—हम लोग शबर अटीविका नामक स्थान से इस नगर में आए थे। मेरी माँ ने बहुत-कुछ बतलाया था कि उनका पूर्व जीवन कैसे व्यतीत हुआ था किन्तु उसने मुझे जीवन के सम्बन्ध में सब-कुछ नहीं बतलाया। इस बात का मुझे दुःख है कि माताश्री ने मुझे तथ्यों से अवगत क्यों नहीं कराया। यही सोचकर मैं कभी-कभी अत्यधिक व्यथित हो उठता हूँ। मैं सोचता हूँ कि वह एक महान् नारी थी। कारण, उसने मुझे वह शक्ति प्रदान की थी जिसके बल पर नन्हा बीज धरती को फोड़कर नए जीवन का प्रतीक बनता है। उसने मेरे जीवन में असीम शक्ति और साहस का संचार किया था। उसने मुझे अपने स्नेह से युक्त आंचल की छाया में ढंका भी और छुड़ाया भी था। यही कारण है कि उसकी ओजमयी वाणी मेरे कानों में आज भी गूँज रही है। आचार्य महाशिल्पी विशु ! क्या आप उस वाणी को सुन पाते हैं ?

विशेष—[१] भाषा काव्यात्मक है ?

[२] भाषा प्रवाहपूर्ण एवं नाटकीयता से युक्त है।

[१३] **आर्य, मेरी आंखों···आप जानते हैं।** [पृष्ठ ६६]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के तृतीय अंक से अवतरित है। सौम्यश्री धर्मपद को बतलाते हैं कि आचार्य विशु ही उसके पिता हैं। आचार्य विशु धर्मपद की शंका का समाधान करते हैं और बताते हैं कि उनका वास्तविक नाम श्रीधर है। विशु तो उनका छद्म नाम है और ऐसा कहकर आचार्य विशु धर्मपद से क्षमा-याचना करने लगते हैं। यह सुनकर धर्मपद आचार्य विशु से कहता है :

व्याख्या—आचार्य विशु ! आप कृपया शान्त रहें और मेरी भावनाओं को इस प्रकार उद्वेलित करने का प्रयास न करें। मैं यह कदापि नहीं चाहता हूँ कि मेरी जो मधुर स्मृतियाँ माँ के साथ सम्पृक्त हैं उन्हें किसी प्रकार विस्मृत कर दिया जाए। यही कारण है कि आचार्य विशु, मेरी आँखों के समक्ष जो आवरण इतने वर्षों से पड़ा हुआ है, उसे हटाकर इस प्रकार मेरी भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाएँ। मैं अभी भी यह नहीं सोच पा रहा हूँ कि यह सब कुछ कैसे हो गया। उस आवरण पर मेरी माँ की मधुर, गम्भीर तथा दर्प से युक्त मूर्त्ति दृष्टिगोचर हो रही है। इसके अतिरिक्त मुझे ऐसा भी आभासित होता है कि उस आवरण पर, जिस पर मेरी माँ की मूर्त्ति अंकित है, सूर्य की अन्तिम किरणें पड़ रही हैं। उन असंख्य किरणों के आलोक के मध्य मेरी माँ कैसी सौम्य, शान्त और भली दीख पड़ती है। ये किरणें किस दिशा से आ रही हैं, इस विषय में आचार्य विशु ! क्या आप कुछ मुझे बतला सकेंगे। आप भली भाँति अव-

गत हैं कि मैं इस विषय में जानने के लिए परम उत्सुक हूँ।

विशेष—[१] भाषा भावपूर्ण, प्रभावशाली एवं अर्थ गाम्भीर्य से युक्त है।
[२] संवादों में नाटकीयता और जिज्ञासा विद्यमान है।

[१४] मन्दिरों का निर्माण·····मुझे प्रकाश मिलता। [पृष्ठ ६६-६७]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' मन्दिर से सम्बन्धित 'कोणार्क' नाटक के तृतीय अंक से अवतरित है। धर्मपद आचार्य विशु से पूछता है कि ये किरणें किधर से आ रही है जिनको आते आपने भी देखा है। आचार्य विशु उसे बतलाते हैं कि वे किरणें उसकी माँ के तन से ही फूट रही हैं क्योंकि उन्होंने भी उन किरणों को देखा है। धर्मपद को आश्चर्य होता है और आचार्य विशु से पूछता है कि उन्होंने उन किरणों को कब देखा है। इस कथन को सुनकर आचार्य विशु उसे बतलाते हैं :

व्याख्या—बेटा धर्मपद ! मैं जब तुम्हारी माँ से दूर चला आया था तब मुझे ग्लानि का अनुभव निश्चय ही हुआ था। यही कारण है कि कोणार्क मन्दिर का ही नहीं, अपितु इससे पूर्व मैंने जितने भी मन्दिरों का निर्माण किया, उस समय निर्माण करते-करते कभी-कभी सहसा मेरी आंखों के समक्ष अन्धकार छा जाता था, यही मनःस्थिति मुझे प्रायः विक्षिप्त बनाए रहती थी। इसीलिए उस अंधेरे में न तो मैं मूर्तियाँ गढ़ सकता था और न ही आकार-प्रकार निश्चित कर पाता था। मेरी कला को न जाने क्या हो गया था। मैं स्वयं को मूर्ति-निर्माण करने में असमर्थ पाता था। इसके अतिरिक्त न ही मैं पत्थरों में प्राण फूंक सकने में समर्थ था अर्थात् उनको तराश करके मूर्तियाँ ही बना पाता था। ऐसे कष्टदायक, दुःखपूर्ण और विषादमय क्षणों में मुझे तुम्हारी माँ की मनोरम एवं तेजस्वी स्वरूप की झलक दृष्टिगोचर हो जाती थी। मैं उस समय, एक नवीन साहस और स्फूर्ति का अनुभव करने लगता था। उन किरणों से ही मुझे प्रकाश मिलता था और मिलती थी प्रेरणा मूर्तियाँ बनाने की।

विशेष—[१] सारिका के तेजस्वी स्वरूप की झांकी लेखक ने चित्रित की है।
[२] प्रकारान्तर से आचार्य विशु के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।

[१५] कैसा अपूर्व क्षण·····नतमस्तक होगी [पृष्ठ ६८]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के तृतीय अंक से अवतरित है। आचार्य विशु धर्मपद से कहते हैं कि विजय के पश्चात् हम दोनों—पिता और पुत्र का अभूतपूर्व अभिवादन होगा। यह सुनकर धर्मपद आचार्य विशु से प्रश्न करता है कि विजय का अभिवादन कैसा ? मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ। धर्मपद के प्रश्न का उत्तर देते हुए महाशिल्पी आचार्य विशु कहते हैं :

व्याख्या—विजय के अभिवादन का वह निश्चय ही कैसा अभूतपूर्व क्षण होगा—मैं यह सोचकर ही अधीर हो उठता हूँ और व्यग्रता से उस क्षण की

प्रतीक्षा करने लगा हूँ। वास्तव में इस अभिवादन के कारण मुझे ऐसा अनुभव होगा कि मेरी सारी साधना फलीभूत होकर आह्लाद एवं उत्माद में विलय हो जावेगी। मुझे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि धरती एवं आकाश भी मेरे इन उल्लास से युक्त क्षणों को सहन नहीं कर पाएँगे और ना ही उल्लास को सम्हाल सकेंगे। उस समय कोणार्क का मन्दिर और उसका प्रत्येक प्रस्तर अनन्य रागिनी को प्रतिध्वनित करेगा और शिल्पी के गौरव के समक्ष संपूर्ण संसार की समृद्धि नतमस्तक होगी। अभिवादन के उन क्षणों की मैं व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मेरे लिए निस्सन्देह यह हर्ष का विषय है।

विशेष—आचार्य विशु की भावना का मार्मिक रूप में अकन हुआ है।

[१६] हाँ, मैं जा रहा हूं·····खिलौना बन जाएगा। [पृष्ठ ७०]

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित 'कोणार्क' नाटक के तृतीय अंक से अवतरित है। धर्मपद चालुक्य के सैनिकों द्वारा घायल हो जाता है। उसके शरीर से रक्त प्रवाहित होने लगता है। सौम्यश्री धर्मपद से कहता है कि वह लेटा रहे अन्यथा रक्त बह निकलेगा। यह सुनकर धर्मपद कहता है कि मैं अत्याचारी से जूझने वालों की पुकार सुन रहा हूँ। उन वीरों को मेरी आवश्यकता है। यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति देने की आवश्यकता है। आचार्य विशु दुःखित स्वर में कहते हैं कि बेटा धर्मपद, तुम जा रहे हो ? यह कथन सुनकर धर्मपद कहता है :

व्याख्या---आचार्य विशु ! आप मेरे पिताश्री हैं। मैं अब जा रहा हूं क्योंकि मेरा अन्तिम समय आ गया है। जिस नीच और पामर चालुक्य से आप भिक्षा मांगते, मैं उसे भीख दूंगा---अपने प्राणों की भीख दूंगा। मेरे हृदय में असीम उदारता विद्यमान है। आर्य ! यह मैं भली-भांति जानता हूँ कि आप कायर नहीं हैं किन्तु मेरे प्रति आपका स्नेह और ममता का भाव आपको दुर्बल बना रहा है। आर्य, जाते-जाते मैं आपको यह स्मरण कराना चाहता हूँ कि आप पिता होने से पूर्व शिल्पी हैं। आप अपने उत्तरदायित्व को भूल न जाएँ। आप एक कुशल कारीगर हैं। आज इन कठिन परिस्थितियों में शिल्पियों पर अत्याचार हो रहा है जिसका सामना समस्त शिल्पियों, मजदूरों तथा प्रजा के समस्त लोगों को करना है। यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए तभी हमें सफलता प्राप्त हो सकती है। कला पर मद में डूबे हुए लोग टूट रहे हैं। सौंदर्य को सत्ता अपने पैरों तले रौंद रही है। और, कोणार्क आपका सुनहरा सपना है जिसके लिए आपने वर्षों तपस्या की है। जिस घोंसले में आपकी इच्छाओं का पंछी बसेरा लेने जा रहा था, वही कोणार्क मन्दिर, एक पापी, पामर और अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जाएगा—यह कैसी दयनीय स्थिति है।

विशेष—[१] प्रस्तुत अवतरण उत्तेजक और प्रभावशाली है।
[२] भाषा सशक्त और विषयानुकूल है।

१५. नाट्य तत्व एवं कोणार्क

नाटक को प्राचीनों ने अनिवार्यतः एक अनुकरणीय बाह्याभिव्यक्ति माना है। "अवस्थानुकृतिनाट्यम" कहकर नाटक की संकल्पनात्मक तथ्यपरकता का संकेत बहुत पहले ही प्राचीनों ने दे दिया था। नाटक की पृष्ठभूमि कुछ भी हो—पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, यथार्थवादी—एक बात निर्विवाद रूप से लक्ष्य है कि नाटक युगानुरूप मूल्यों के विश्लेषण, संश्लेषण संस्थापन में समर्थ होना चाहिए। कोई भी नाटक अपने प्रमातावर्ग के वर्तमान के सत्य से कटकर जी नहीं सकता—बहुत देर तक प्रभावी रूप से सिद्ध नहीं रह सकता। 'कोणार्क' जगदीशचन्द्र माथुर की अमर कृति है। नाटककार ने उसमें युगातीत सत्य को उद्घाटित किया है। हर दृष्टि से हिन्दी के नाटकों में यह एक विशिष्ट सफल नाट्य-प्रयोग के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। नाटक के तत्वों की दृष्टि से 'कोणार्क' अपने आप में एक निहायत ही खूबसूरत नाटक है। नाटक के तत्व निम्नोक्त हैं—

१. कथावस्तु (कथानक योजना)
२. पात्र (चरित्र-चित्रण)
३. अभिनय (रंगमंच)
४. संवादिता
५. भाषा शैली
६. उद्देश्य एवं रस।

१. कथावस्तु—नाटक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यविदों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि संतुलित-समन्वित-पौर्वापर्य क्रम में अनुस्यूत कथा-प्रवाह की समुचित विनियोजना के बिना नाटक की सत्ता ही संभव नहीं है। कार्य-व्यापार की योजना का दूसरा नाम कथानक है। नाट्य-वस्तु में घटनाओं का परस्पर कार्यकारण सम्बन्धी तालमेल बिठाना

बहुत जरूरी है। कथानक योजना घटनाओं का यथातथ्य आकलन न होकर घटनाओं का कलात्मक प्रस्तुतीकरण होता है। कथानक अंग्रेजी के प्लाट शब्द का पर्याय है। कथानक में गतिशीलता रहती है, उतार-चढ़ाव आते हैं। कथानक में जीवन की वास्तविकता का प्रस्फुरण होने के साथ-साथ ही उसमें कुतूहल का बना रहना भी जरूरी है। सार्वकालिक और विश्वजनीन जगत व्यापार एवं लोकचेतना का यथार्थ बोध कलात्मक स्तर पर होना, कराना बहुत जरूरी होता है। भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने बड़े विस्तार से कथावस्तु पर शास्त्रीय चिंतन किया है। इसी संपूर्ण शास्त्र-चिंतन के आधार पर 'कोणार्क' की कथावस्तु का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि—'कोणार्क' की कथावस्तु प्रख्यात है। सात सौ वर्ष पूर्व गंगवंशीय शासकों के युग में उत्कल (वर्तमान उड़ीसा) प्रदेश में पूर्वी समुद्र तट के किनारे कोणार्क के विख्यात सूर्य-मंदिर से सम्बद्ध इतिहास को नाटककार ने अपनी कथा का उपजीव्य बनाया है। यद्यपि कुछेक काल्पनिक पात्र भी हैं—पर कुल मिलाकर नाटककार ने भारत के पूर्व मध्यकालीन इतिहास की रक्षा का भरसक प्रयास किया है। पूरे नाटक में केवल आधिकारिक कथा ही आद्यंत गतिमान रही है। प्रासंगिक कथा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। कहा जा सकता है कि 'कोणार्क' एकात्मक-कथा-प्रधान नाटक है। विशु-धर्मपद प्रसंग की कोणार्क-विध्वंसान्तर्गत कथा को ही नाटककार ने उठाया है। उसके सामने एक प्रश्न है—एक जिज्ञासा है कि कोणार्क का इतना विशाल-भव्य मंदिर ध्वस्त कैसे हुआ। मुसलमान तो पहुंचे नहीं—अगर वे पहुंचे होते तो मंदिर की शेष मूर्तियां, रथादि कुछ भी न बचता। आखिर वह कौन-सा रहस्य था—क्या कारण था कि चट्टानी-शिलाओं का इतना सशक्त मंदिर—इतनी भव्य कला एकाएक ही ढह गई और जो पत्थर लगभग सात सौ वर्ष पूर्व जहां जिस रूप में जिस कोण से गिरे होंगे—वे आज भी उसी कोण में भग्न ध्वंसप्राय वैसे के वैसे ही बिखरे पड़े हैं। इस प्रकार लेखक ने नाट्यवस्तु का समस्त ताना-बाना इसी प्रश्न का समाधान ढूंढने के लिए बुना है। नाटक की कथावस्तु का सीधा सम्बन्ध विशु से है। वही इस नाटक के फल का भोक्ता है। नाटक के आदि-अन्त में वही विद्यमान है। प्रासंगिक कथाएं आधिकारिक कथा को गति भर देती हैं। पताका, प्रकरी,

पताका-स्थानक जैसी अन्य नाट्य-योजनाए भी हैं, जो कमोवेश इस नाटक में न के बराबर हैं। फल नाटक का अनिवार्य तत्व है। इस दृष्टि से प्राचीनों ने कार्यावस्था के भेद किए हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल-लाभ की उत्सुकता नाट्य-कथा का आरंभ है। नाटक के उपक्रम में ही लेखक ने इसे प्रस्तुत कर दिया है—

"हाँ, विराट् कल्पना साकार हो चली। लेकिन मंदिर का शिखर पूरा होना बाकी है? सारे उत्कल की आंखें कोणार्क पर हैं कब उसका शिखर पूरा होगा? कब उस पर केसरी पताका फहरेगी?"

(पृष्ठ १५)

उक्त पंक्तियों में कोणार्क के शिखर पर सफलतापूर्वक कलश स्थापित हो जाने और मंदिर का मूर्ति-प्रतिष्ठापन होने का स्वप्न दर्शाया गया है। शास्त्रीय शब्दावली में यही नाटक की 'आरम्भ' नामक कार्यावस्था है। फल प्राप्ति के लिए सायास किए जाने वाला तत्परतापूर्ण श्रम-'यत्न' कहलाता है। विशु और मुकुन्द की वार्ता तथा धर्मपद का महाशिल्पी विशु को कोणार्क की कलश-स्थापन योजना के विषय में बारीकी से तर्क-वितर्कमूलक शैली में कुछ बता देना 'यत्न' नामक कार्यावस्था का संकेतक है। प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में यह कार्यावस्था अपने मुखर रूप में दिखाई पड़ने लगती है। 'प्राप्त्याशा' नामक तीसरी अवस्था में फल प्राप्ति की आशा तो रहती है पर वह नानाविध विघ्न-बाधाओं और जटिलताओं से भरी रहती है। द्वितीय अंक का आरम्भिक अंश 'प्राप्त्याशा' को ही दर्शाता है। मंदिर के शिखर पर कलश स्थापित किया जा चुका है। मंदिर का काम पूरा हो चुका है। केवल उसका संस्कार और लोकार्पण व मूर्ति प्रतिष्ठापन ही शेष है—लेकिन राजराज चालुक्य का राजद्रोह एक कठिन विघ्न के रूप में आ उपस्थित होता है। फल प्राप्ति का निश्चय हो जाए—वहाँ नियताप्ति है। शुद्ध शास्त्रीय अर्थों में तो इस नाटक में नियताप्ति नहीं है—क्योंकि मंदिर में मूर्ति प्रतिष्ठापन कभी भी नहीं हो पाता। मूर्ति संस्थापना एवं उसके उद्घाटन से पूर्व ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। सब कुछ तितर-बितर हो जाता है। फिर भी शिल्पियों की जय के ओजपूर्ण वक्तव्य में—धर्मपद की वाणी में निश्चयात्मिका वृत्ति से युक्त नियताप्ति

नामक कार्यावस्था की अद्‌भुत छटा देखी जा सकती है। सम्पूर्ण (अन्तिम) फल मिलने पर नाटक का फलागम आ जाता है। शिल्पियों को उनकी कला का—उनके श्रम का—अथक कला-साधन का यही त्रासद-पुरस्कार मिलता है कि अपने जीते-जी वे मंदिर को विधर्मी राजपुरुष राजराज चालुक्य के वहशीपन से अपवित्र नहीं होने देते। सब प्राण विसर्जन कर देते हैं, पर मंदिर की मूर्ति को आंच नहीं आने देते।

वस्तु प्रयोजन की दृष्टि से प्राचीनों ने कथावस्तु को अन्य पाँच भागों में बाँटा हुआ है। १. 'बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी, ५. कार्य। इन्हें शास्त्र में अर्थ प्रकृति भी कहा गया है। नाटक के आरम्भ में स्वतः पूर्ण स्वल्प-संकेतित वह कारण जो अनेकों उलझनों के बावजूद वाँछित इष्ट या फल का कारण होता है—बीज कहा गया है। राजज्योतिषी की भविष्यवाणी—"कोणार्क देवालय ज्यों ही पूरा होगा, त्यों ही इसके पत्थरों में पंख लग जाएंगे और सारा मंदिर आकाश में उड़ जाएगा—(यानि मंदिर विध्वस्त हो जाएगा) बीज भाव को प्रतिफलित करती है। यही बीज अन्य कथावृत्त का सहारा लेकर या किसी इतिवृत्त के जुड़ जाने पर जब अनायास ही तैलीय बिन्दुवत् कथानक के मूलाश पर फैलने लगता है तब यह बिन्दु कहलाता है। प्रस्तुत नाटक में राजराज चालुक्य का आतंक और प्रिया चन्द्रलेखा की स्मृति इसी के अन्तर्गत रखी जा सकती है। दूर तक चलने वाली सानुबंध समानान्तर कथा पताका और प्रासंगिक कथाएं प्रकरी कहलाती हैं। 'कोणार्क' में पताका और प्रकरी अपने विशुद्ध शास्त्रीय अर्थ में नहीं हैं। कार्य वह अंतिम साध्य है जिसके लिए संपूर्ण कथानक का साज-संभार किया जाता है। नाटक के अंत में त्रासद स्थितियों के बीच कोणार्क का पूरा हो जाना, धर्मपद का पितृमिलन और तदुपरान्त कोणार्क का विध्वंस—यह सब त्रासंवलित उस 'कार्य' को सिद्ध करता है जो कोणार्क के इतिहास की तथ्यात्मक त्रासदी है।

कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों को जोड़ने एवं उनमें तालमेल बैठाने के लिए भारत के प्राचीन प्रज्ञाचक्षु मनीषियों ने पंचसंधियों का भी शास्त्रोक्त विधान किया था। मुख, प्रतिमुख गर्भ, विमर्श और निर्वहण के नाम से ये पंच संधियाँ नाट्य शास्त्रोक्त कथानक विश्लेषण-विवेचन का महत्वपूर्ण अंश

है। प्रस्तुत नाटक में बीज और प्रारम्भ को मिलाने वाला स्थल मुख संधि है। विशु के प्रस्तुत कथन में इसका सद्भाव मिलता है—"ज्योतिषी के वचन निरर्थक नहीं है बंधु ! जानते हो, हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मंदिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। लेकिन·····लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से।·····मुझे लगता है, अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश में भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।" (पृष्ठ १६) प्रतिमुख संधि "यत्न" और "बिन्दु" को मिलाती है। धर्मपद द्वारा विशु को शालीनतापूर्वक उत्साहित करते हुए मंदिर के शिखर पर कलश स्थापित करने की तकनीक के विषय में अपना मत बताना और साथ ही राजराज चालुक्य की चुनौती का साहसपूर्वक सामना करने के लिए प्रोत्साहित करना प्रतिमुख संधि के अन्तर्गत आता है। विशु के निम्न शब्द प्रतिमुख संधि को चरितार्थ करते हैं—

"युवक ! तुम्हारी बात सारहीन नहीं जान पड़ती। अमल के केन्द्र पर शायद अधिक भार देने से कलश की यष्टि को सहारा मिले। (विचारमग्न मुद्रा) हाँ, युवक मुझे पहले सूझा था। अमल के बाहरी भाग पर इस समय जान पड़ता है अनुपात से अधिक भार है। अगर·····अगर·····हम उस भार को हल्का कर सकें। तुम ठीक कहते हो·····भार को हल्का करने के लिए अगर पटल को अन्तर्मुखी कर दिया जाए, तो सम्भव है, संभव है·····सम्भव। (कलाकार की भावना चरमबिन्दु पर पहुंच गई है) धर्मपद, चलो मेरे साथ। अभी चलो। हम छत्र के ऊपर चढ़कर अभी तैयारी करेंगे—पटल बदलने की, अभी (मध्य द्वार की ओर बढ़ता है) (पृष्ठ ३३)। गर्भ और विमर्श संधि नहीं है—यद्यपि प्राप्त्याशा और नियताप्ति नामक कार्यावस्थाएं अवश्य हैं। कार्य और फलागम के उस स्थल पर जहाँ सभी अर्थों का पर्यवसान हो, निर्वहरण संधि होती है। उपसंहार का वह अंश जहाँ लेखक ने लेखकीय वक्तव्य की सूत्रधारक टिप्पणी-शैली में विशु के द्वारा सायास-सक्रोध चुम्बकीय संतुलन को असंतुलित कर कोणार्क के विध्वंस का संकेत दिया है—तथा उसके पश्चात् क्या हुआ—उसके

शाब्दिक कथन में निर्वहण संधि है—वे शब्द हैं···" यों कोणार्क के विमान टूटते ही

> अत्याचारी चालुक्य और उसके साथियों का विनाश हुआ
> और विशु !
> जिस विराट कल्पना को उसने साकार बनाया
> उसी की गोद में उसे मृत्यु-शय्या मिली ।
> वे पाषाण-खंड जिन्हें उसने जीवन दिया था
> उसके शव पर फूलों के समान बिखरे पड़े रहे ।
> उसके प्यारे बेटे ने ही तो वे फूल बिखेरे थे ।
> कैसा अनूठा है यह खंडहर ।"—(पृष्ठ ६९)

कथोपकथन की दृष्टि से इसका कथानक मूलतः सर्वश्राव्य है । इसके संवाद रंग-मंच पर सब सुनते हैं । यद्यपि संलापमूलक अश्राव्य भी है, पर वह अभिनय का वाचिक अंग बनकर ही उभरा है । विस्मय और कुतूहल इसके कथानक प्रवाह का अन्तःगुण है । नाटक के आरंभ से अन्त तक कुतूहल और जिज्ञासा-भाव बराबर बना रहता है । घटनाओं का घात-प्रतिघात कथा को त्वरा प्रदान करता है । इसकी वस्तु-योजना बड़ी चुस्त और सधी हुई है । कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि कोई घटना, कार्य या संवाद फालतू में आ गया है । पूरा कथानक एक क्षिप्र-मंथरता से प्रमातृ-जिज्ञासा को बरकरार किए बराबर बढ़ता चला जाता है । कथानक की दृष्टि से इसकी वस्तु-विनियोजना स्वतः पूर्ण रस-संवालित, भाव-चर्वण-सम्पन्न सिद्ध हुई है और यही इसके वस्तु तत्व की सफलता भी है, विशिष्टता भी ।

२. पात्र (चरित्र-चित्रण)— सृष्टि का संपूर्ण जड़-चेतन क्रिया व्यापार मनुष्य के निमित्त है । समस्त लोकव्यवहार, लोककर्म, लोकेषण एवं लोकस्थितियां मानव को केन्द्र में रखकर ही गतिशील होती हैं । नाटक अनिवार्य रूप से एक लोक-बाही भावन, विस्तारता एवं अभिव्यंजन व रिरसनक्रिया है । इसलिए नाटक में पात्रों की क्रियात्मक गतिशील महत्ता और भी बढ़ जाती है । वस्तुतः नाटक पात्रों के द्वारा प्रेक्षकों के लिए मानव मात्र में से पात्रों को लेते हुए प्रस्तुत किया

जाता है। नाटक के समस्त पात्र मुखर होते हैं, मूर्त्त होते हैं। वे संदेह मंच पर आते हैं। विभिन्न भाव-भंगिमाओं, मुद्राओं में अपने को यथाकदा व्यक्त करते हैं और प्रेक्षकों के साथ एक अन्तर्बाह्य मनस् सम्बन्ध आरोपित स्तर पर जोड़ लेते हैं। नाटक के पात्र वस्तुतः उस रूप में अपने को दिखाने की, पेश करने की कोशिश करते हैं, जैसा वे हो सकते हैं, अथवा कथावस्तु के अनुसार उन्हें होना चाहिए।

प्रस्तुत नाटक की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। वह भी संघर्ष और तीव्र एवं तीक्ष्ण घात-प्रतिघात की द्रुतगामी घटनाओं से आद्यंत ओतप्रोत है। इसलिए इसमें जितने भी पात्र हैं—वे सब गतिशील हैं, तेज हैं, कर्मठ हैं—घटनाओं की त्वरा को जीवित ही नहीं करते, उसे नियमित-नियंत्रित करते हुए गतिशील भी करते हैं। प्रस्तुत नाटक का कोई भी पात्र स्थौनिक पात्र नहीं है। इसमें कुल मिलाकर दस प्रमुख पात्र हैं—प्रतिहारीगण, सैनिक जैसे दो अन्य वर्गीय पात्र हैं। शबर कन्या चन्द्रलेखा सूच्य पात्र है। इस प्रकार कुल मिलाकर तेरह पात्रों की संकल्पना है। इनके अतिरिक्त उपक्रम और उपसंहार के कोरस गान में तीन-तीन समवेत-प्रच्छन्न-स्वरोद्बोधक पात्र हैं तथा एक वक्ता (सूत्रधार के समान) पात्र है, जो रंगमंच पर प्रत्यक्ष न होकर प्रच्छन्न ही रहते हैं। 'विशु' कोणार्क का कथानायक है। धर्मपद विशु का पुत्र है और क्रांतिपूर्ण विचार-दर्शन एवं क्रियमाण अन्याय-विरोध ये अखिल एक प्रातिम कला-शिल्पी-युवक है। 'नरसिंह देव' उत्कल (वर्तमान उड़ीसा) राष्ट्र के अधिनायक हैं। साहसी भी है, युद्धक भी और कलाप्रिय भी। 'राजराज चालुक्य' इतिहासप्रसिद्ध चालुक्य राजवंश का संस्थापक राजद्रोही महामात्य है, जो उत्कल नरेश 'नरसिंह देव' की राजसभा का सबसे प्रमुख सामंत और महामन्त्री है। मुकुन्द विशु का मित्र है, वृद्ध एवं प्रौढ़ विचारवान शिल्पी है। राजीव मुख्य प्रस्तर-खंड कीर्तक-शिल्पी है। पत्थरों की कटाई-छंटाई एवं बुनावट उन्हीं के प्रधान संरक्षण में चल रही है। शैवालिक राजराज चालुक्य का दूत है। महेन्द्र वर्मन एक निष्ठावान रहस्याधिकारी, अर्थात् इंटैलिजैंट ब्यूरो चीफ के समान अपने राजा 'नरसिंहदेव' के प्रति पूर्णतया समर्पित है। भास्कर और गजाधर अन्य शिल्पी हैं जो अनुचरवत् यथास्थान कथा में फ्लैश होते हैं। सैनिक एवं प्रतिहारी आदि हैं। शबर कन्या 'चन्द्रलेखा' सूच्य पात्रा के रूप में एकमात्र नारी पात्र है। नाटक के आरंभ

और अन्त में कोरस शैली में गीतात्मक स्वरों से कथा का संकेत देने वाले तीन प्रच्छन्न पात्र हैं और एक सूत्रधारवत् प्रच्छन्न वक्ता पात्र है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक की पात्र-योजना अत्यन्त संश्लिष्ट है। नाटककार ने कहीं पर भी किसी फालतू पात्र की योजना नहीं की है। आर्नल्ड बेनेट जैसे विद्वानों ने कथा-साहित्य में चरित्रों की असंदिग्ध महत्ता का प्रतिपादन किया है। नाटक वस्तुतः एक कार्यमूलक चरित्र-योजना है। नाटककार अपनी रचना में प्रत्यक्ष नहीं होता, वह तो पात्रों की सृष्टि करके उनके हाव-भाव, भाव-भंगिमाओं एवं क्रियाओं के द्वारा उनका अपने दर्शकों/पाठकों से सीधा संबंध स्थापित कराता है, तालमेल बिठाता है। इसीलिए नाटकों में पात्रों की संश्लिष्ट योजना का महत्व बहुत बढ़ जाता है। प्रस्तुत नाटक में लेखक ने पात्रों की भीड़ इकट्ठी नहीं की है जिसका शुभ परिणाम यह हुआ है कि कहीं भी कार्य-व्यापार अवरुद्ध नहीं होने पाया है। पात्र हैं और यथा कार्यानुरूप हैं। नाटक की प्रबन्ध योजना के अन्तर्गत जितने पात्रों की आवश्यकता उचित है, नाटककार ने उतने ही पात्र गढ़े हैं। प्रस्तुत नाटक की सबसे बड़ी खूबी यही है कि इसमें पात्र कथानुरूप हैं और वे पूरी तरह सक्रिय हैं। कहीं भी भावाडम्बर या क्रियाडम्बर नहीं दिखाया गया है। अत्यन्त संक्षिप्त और द्रुत गति से वे क्रियमाण होते हैं तथा अपना-अपना रोल अदा करते चलते हैं। पात्रों का संगठन एवं उनका आनुक्रमिक क्रियावरण कुछ इस तरह से किया गया है कि कथा की संगति भी बनी रहती है, नाटकीय कुतूहल और नाटकीय जिज्ञासा व उद्देश्य भी दूषित नहीं होता तथा पाठक/प्रेक्षक शुरू से अन्त तक पात्रों के क्रियाकलापों से बंधा रहता है। इस नाटक में धर्मपद का चरित्र अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ उभारा गया है। वह विशु से भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। विशु नाटक का नायक है। संपूर्ण घटना-चक्र उसी को केन्द्रस्थ रखकर चलता है। नाटककार ने कोणार्क की सांस्कृतिक/धार्मिक एवं कलात्मक गरिमा के अनुरूप ही इन समस्त पात्रों के व्यक्तित्व में भव्यता का संधान किया है। आम जीवन और अंत्य-सामाजिक-वर्ग से जुड़े होने पर भी इन पात्रों का व्यक्तित्व गरिमापूर्ण और आकर्षक है। राजराज चालुक्य का व्यक्तित्व मध्य-कालीन सामन्ती मनोवृत्ति के अनुरूप है। अन्य पात्र काफी कुछ हद तक वर्गीय पात्र हो जाते हैं। वे टाइप कैरेक्टर हैं—मशीनी प्रक्रिया के सदृश उनके कार्य रहते हैं। इनमें सैनिक, प्रतिहारी, राजदूत, आमात्य-सहायक आदि आते हैं।

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि इस नाटक में पात्रों की विनियोजना अत्यन्त सुचारूपूर्ण तरीके से की गई है। और पात्रों के व्यक्तित्व एवं उनकी क्रियाओं के अन्तः सम्बन्ध के तालमेल का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

३. अभिनय (रंगमंच)—प्रस्तुत नाटक एक सफल मंचीय नाटक है। नाटककार ने मंच, रंग, कर्म और अभिनय को लेकर व्यापक निर्देश दिए हैं। वैसे भी भारतीय परंपरा नाटक को अनिवार्य रूप से एक रंगधर्मी साहित्यिक विधा मानती चली आयी है। रंगमंच और अभिनय के प्रति बराबर तत्परतापूर्ण एकनिष्ठता बनी रहने के कारण नाटककार ने पूरे नाटक के कथात्मक, क्रियात्मक विकास को अत्यन्त भावसंकुल, रसावगाही एवं आकर्षक व प्रभावशाली बना दिया है। प्रस्तुत नाटक जगदीशचन्द्र माथुर के सफलतम नाटकों में से एक है। सैकड़ों बार यह मंचित किया जा चुका है। रेडियो से प्रसारित किया जा चुका है। नाटककार ने रंगमंच की ऐतिहासिक इयत्ता एवं वास्तविकता की रक्षा के लिए गहन शोधश्रम के पश्चात् रंगमंचीय साज-सज्जा से संबंधित खाके भी दिए हैं। आहार्य अभिनय को ध्यान में रखते हुए वेष-भूषा सम्बन्धी व्यापक निर्देश दिए हैं। एक दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—"परिशिष्ट में हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की गतिविधि और भविष्य पर जो विचार मैंने प्रकट किए हैं, उनका कोणार्क के वस्तुविषय और रूप-रेखा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि 'कोणार्क' पहले लिखा गया और यह निबन्ध बाद में। किन्तु दोनों प्रयास एक ही यज्ञ के लिए आहुतिस्वरूप होने के कारण असंगत न माने जायेंगे।" लेखक ने स्पष्ट किया है कि 'कोणार्क' को लेकर यद्यपि उसने अलग से कोई विशिष्ट रंगमंचीय सलाह या टीका-टिप्पणी नहीं दी है। फिर भी उसकी नाटक और मंचीय धारणाएं कोणार्क की रचना-प्रक्रिया को ही स्पष्ट नहीं करतीं अपितु उसकी भावन-क्रिया की दिशा और विधि का भी बोध कराती है। नाटक के अन्त में दिया गया पूरे का पूरा परिशिष्ट नं० १, रंगमंचीय सलाह-संकेतों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नाटककार ने इसमें रंगमंचीय साज-सज्जा सम्बन्धी विस्तृत निर्देश दिए हैं जो नाटक की मंचीय-प्रस्तुति की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। इस नाटक की एक विशेषता यह है कि इसमें वाचिक, आंगिक अथवा

आहार्य किसी भी दृष्टि से अभिनय की बारीकियों को देखा जाए—इसमें ऋजु-अभिनय कला का सौष्ठव सर्वत्र छाया हुआ है। अर्थात् अभिनय में काफी क्षिप्रता और एक्शन की पूरी गुंजाइश बराबर बनी रहती है। रंगमंच एवं अभिनय की दृष्टि से यह नाटक एक सफल नाटक है।

(४) संवादिता—कथोपकथन साहित्य का एकमात्र संमूर्त उपकरण है। शब्दार्थ प्रक्रिया का यह माध्यम अत्यन्त समर्थ एवं जीवन्त होता है। संपूर्ण सृष्टि व्यापार के मूल स्वरूप को प्रतिपादित करने में यह समर्थ होता हैं। नाटक में पात्रों के अभिनय एवं अन्य भौतिक साज-संभार के परिप्रेक्ष्य में कथोपकथन अथवा संवादिता की महत्ता और भी बढ़ जाती है। नाटकों में मुख्य रूप से वर्तमानकालिक क्रियापद में संवादों की योजना की जाती है, जिससे नाटक में घटित होने वाली घटनाओं का यथार्थ अधिक प्रभावशाली और चाक्षुष स्तरीय क्रियमाण लगने लगता है। ऐसा लगने लगता है कि जो कुछ घटित होते हुए दिखाया जा रहा है वह सब संकल्पनात्मक अथवा आरोपित रूपकगत ही नहीं हैं अपितु सब वास्तविक है, यथार्थ है और पाठक संवादिता की वर्तमान कालिकता के साथ-साथ बढ़ने लगता है। संवादों के मामले में एक बात और ध्यान में रखनी पड़ती है कि संवाद अनावश्यक रूप से लम्बे, कोरे उपदेशात्मक, दुरूह, उबाऊ दर्शनपरक, अस्पष्ट अथवा संश्लिष्ट लम्बे-लम्बे वाक्यों में गुथित नहीं होने चाहिएं। संवादिता जितनी क्षिप्र, व्यासशैलीपरक, स्पष्ट, व्यावहारिक भाषा से मुक्त बोलचाल की आम भाषा-शैली में होगी, वह उतनी ही प्रभावपूर्ण एवं अर्थपरक होगी। नाट्येत्तर साहित्य में तो सैद्धांन्तिक, संश्लिष्ट, गूढ़-दर्शनपरक-रहस्यावृत्ता क्लिष्ट भाषा-शैली में बुनी हुई संवादिता चल सकती है—पर नाटक में ऐसा संभव नहीं है। नाटक एक लोकधर्मी विधा है और लोकधर्मी विधा की संवादिता लोकव्यवहारमूलक भाषा-शैली में ही संभव हो सकती है, तब ही वह रसनीय एवं प्रभावपूर्ण होगी तथा नाट्यकार एवं प्रेक्षक के मध्य साधारणीकरण की मुक्तहारी रसदशा के प्रपन्न में समर्थ होगी। नाटक में संवादिता वाक्चातुरी और वाणी की अन्य भाव-भंगिमाओं से युक्त होती है। पात्रानुकूल भाषा में नाटककार पात्रों के परस्पर वाचिक घात-प्रतिघात के सौंदर्य को उभारता चलता है। 'कोणार्क' में नाटककार ने संवादिता की प्रकृति एवं

उसके लक्ष्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। एक ओर तो 'कोणार्क' की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है—दूसरी ओर उसका प्रेक्षक आधुनिक युग का हिन्दी भाषा-भाषी आम सामान्य साहित्यप्रिय जनसमुदाय है। नाटककार जगदीश चंद्र माथुर इतिहास और वर्तमान सामान्य प्रेक्षक के जटिल सम्बन्ध को बखूबी समझ-बूझकर चले हैं। रेडियो एवं पत्रकारिता की भाषा से एक लम्बे समय तक सम्बद्ध रहने के कारण प्रशासकीय सेवा के ये उच्चाधिकारी नाट्यकार जगदीशचन्द्र माथुर नाटक में संवादिता एवं उसकी भावनप्रक्रिया पूर्ण रसावगाहिनी महत्ता को भली-भाँति समझते-बूझते थे। इसीलिए उन्होंने अत्यन्त संयत वाणी में क्षिप्र घात-प्रतिघातमूलक संघर्षपूर्ण स्पष्ट भावोद्बोधिनी संवादिता का नाट्यान्त प्रस्तुत किया है। 'कोणार्क' की संवादिता अत्यन्त विलक्षण है। वर्तमानकालिक क्रियापदों की संरचना में नाटककार ने प्रभावपूर्ण तरीके से नाट्य व्यापार की गतिशीलता को बराबर तेज और प्रभावोत्पादक बनाए रखा है। संवाद अत्यन्त चुस्त हैं, पात्रों की प्रकृति उनके संस्कार एवं व्यक्तित्व के अनुरूप है—घटनाओं के संदर्भ में अपनी सटीक स्थिति को प्रमाणित करते हैं। साथ ही, मनोवांछित अर्थ का उद्भासन करते हुए अभीप्स लक्ष्य को उद्घाटित करते हैं। 'कोणार्क' की सुष्ठु संवाद-योजना का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

नरसिंह—क्या है महेन्द्र ?

महेन्द्र—(चिन्तित स्वर में) महामात्य तो अभी तक नहीं आये देव ? किंतु कुछ लोग आते दीख पड़ते हैं।

नरसिंह—वही होंगे ! कितनी दूर हैं ?

महेन्द्र—निकट ही ! किन्तु वे लोग आ रहे हैं। पश्चिम से नहीं, उत्तर और दक्षिण से भी। अनेक रथ और सैनिक। धूल आकाश तक फैल रही है।

नरसिंह—जान पड़ता है महामात्य ने माण्डलिकों और सामन्तों को भी आज के समारोह में सम्मिलित होने के लिए बुलाया है।

महेन्द्र—किन्तु इस निमन्त्रण को महाराज से गुप्त रखने का आशय ?

नरसिंह—कौतुक !

महेन्द्र—नहीं देव !

नरसिंह—तब ?

महेन्द्र—(रहस्यपूर्ण मुद्रा और गहरा स्वर) षड्यन्त्र !

नरसिंह—(चौंककर) महेन्द्र !

महेन्द्र—सारी दण्ड पाशिक सेनानी महामात्य के अधिकार में है, देव मैंने सभी द्वार बन्द कर दिए हैं देव !

नरसिंह—(आवेश में) हम अभी सिंह द्वार पर जाकर स्वयं देखेंगे ! तुम्हारा भ्रम है।

महेन्द्र—भ्रम नहीं, देव····· वह देखिए।

(५) **देशकाल और वातावरण**—माथुरजी के नाटकों में देशकाल और वातावरण को अत्यन्त शालीन रूप में प्रस्तुत किया है। इसी कारण वह कथानक से पूर्णतः मेल खाता है। आलोच्य नाटक एक ऐतिहासिक घटना को व्यंजित करता है और लेखक ने तत्कालीन देशकाल एवं वातावरण को प्रस्तुत करने में पर्याप्त सजगता प्रदर्शित की है। इस नाटक में ऐतिहासिक वातावरण को भव्य, स्वाभाविक, सुन्दर, वास्तविक और कलात्मक रूप में नाटककार ने प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है।

'कोणार्क' एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित नाट्य-रचना है। इसमें नाटककार ने विख्यात सूर्य-मन्दिर के ध्वंस की घटना को प्रस्तुत किया है। इसके लिए लेखक श्री माथुर ने सूर्य-मन्दिर के प्रधान शिल्पी विशु के घर की स्थिति, मन्दिर-निर्माण में उसकी लगनशीलता, महामात्य चालुक्य की धमकी से व्युत्पन्न शिल्पियों का भय-आतंक, धर्मपद की विद्रोह-धर्मिता, चालुक्य के सैनिकों और शिल्पियों के प्राणान्तक संघर्ष और अन्ततः विशु द्वारा मन्दिर के ध्वंस आदि का चित्रण करते समय तत्कालीन परिवेश को मूर्तमान कर दिया है। इतना होने पर भी पात्रों के अन्तरंग वातावरण को अधिक सुष्ठु अभिव्यक्ति मिली है।

संक्षेप में, धर्मपद के संवादों से जहाँ तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक दशा का पूर्ण आभास मिल जाता है, वहाँ विशु के जीवन-वृत्त द्वारा तत्कालीन कला और संस्कृति का वास्तविक परिचय मिल जाता है। कतिपय स्थलों पर पात्रों की वेशभूषा भी तत्कालीन वातावरण को संकेतित करती है। इस प्रकार नाट

में अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार के वातावरण को कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(६) **भाषा-शैली**—काव्य-भाषा और नाट्य-भाषा में कुछेक मूलभूत भेद होता है। काव्य की भाषा जहाँ संश्लिष्ट-संस्कार संभूत-संकल्पित और जटिल रूप में भी कलात्मक हो सकती है, वही नाट्य-भाषा को अनिवार्यतः प्रेक्षक की भाव-भूमि एवं मंचन व प्रसारता की लोकविहित व्यवस्था की लक्ष्मण रेखा में बंध कर प्रस्फुटित होना पड़ता है। नाटककार का पाठक/दर्शक लक्षित रहता है—वह अत्यन्त संवेदनशील होता है—भाषा एवं शैली के स्तर पर जरा सी भी चूक या असावधानी नाटक एवं नाटककार के लिए ही नहीं अपितु नाटक के मंचन से सम्बद्ध प्रत्येक पात्र/आर्टिस्ट के लिए प्राणघाती हो सकती है। नाटक की भाषा लोकसंस्कार की भाषा होती है, लोक जगत में स्वीकृत एवं व्यवहृत भाषिक प्रतीकों को लेकर ही चलती है, उसकी टोन और पिच लोकजगत के व्यवहारमूलक (एप्लाईड) विधि-निषेधों की अवहेलना नहीं कर सकते। इसी-लिए नाटककार को अपनी भाषा और प्रस्तुति-शैली के प्रति अत्यन्त सजग रहना पड़ता है। वह भाषा और शैली के साथ बलात्कार नही कर सकता। उसे प्रेक्षक की मनोभूमि के गृहीता के आदर्श के यथार्थ का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। जगदीशचन्द्र माथुर एक लोकधर्मी नाट्यकार थे। उन्होंने पारसीक रंगमंच के साथ-साथ हिन्दुस्तान की लोक-नाट्य मंडलियों की मंच शैली का गहन अध्ययन, विश्लेषण किया था। वे हिन्दी को सुव्यवस्थित लोकमंच देने की फिराक में थे। बखूबी जानते थे कि हिन्दी का नाट्यमंच प्राचीन राजसी अभि-जात्य अथवा उच्च संस्कृत या अंग्रेजीदां प्रेक्षकों/रंगकर्मियों के सहारे ही खड़ा नहीं किया जा सकता। हिन्दी नाटक और उसके रंगमंच को जब तक लोकधर्मी जनाधार नहीं दिया जाएगा—हिन्दी का रंगमंच अपनी विशिष्ट सत्ता स्थापित नहीं कर पाएगा। यह भी जानते थे कि इस कार्य में रेडियो एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वीकृत जनभाषा हिन्दी का सामान्य व्यवहारमूलक स्वरूप ही आधारक बनेगा। लिहाजा उन्होंने प्रसाद की सी पुरानी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी एवं संश्लिष्ट अभिव्यक्ति शैली को भी नहीं अपनाया, न ही पारसी थिएटर की खिचड़ भाषा और तुकबन्दीपूर्ण शैली को स्वीकार किया। अपितु उन्होंने हिन्दी नाटक और

उसके मंच की एक ऐसी शैली विकसित की, भाषा का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया—जिसका संकेत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दिया था। 'कोणार्क' की भाषा नाटक की कथावस्तु के युग को ध्यान में रखते हुए तत्सम प्रधान अवश्य है—पर उसमें कहीं भी आरोपित/कृत्रिमतापूर्ण पदरचना—वाक्यगठन की प्रवृत्ति देखने को नहीं मिलती। साथ ही छोटे-छोटे संसक्त वाक्य हैं, बोलचाल की सी शैली में प्रस्तुत होने वाले वाग्खंड हैं जो नाटक को अधिक विश्वसनीय बनाते हैं और संवाद के स्तर पर प्रेक्षक के साथ एक विश्वास का रिश्ता कायम करते हैं। वस्तुतः नाटककार ने संस्कृतकालीन रंगमंचीय कला को अपने नाटकों का संप्रेरक माना है। देहाती रंगमंच का समर्थन किया है। 'कोणार्क' की शैली काव्यात्मकता को लिए हुए है—इससे रसपरिपाक में वांछित सहायता मिली है। देहाती तथा प्राचीन यूनानी नाटकों की कोरस-शैली का भी समावेश किया है। संस्कृत नाटकों की सूत्रधार पद्धति को भी नाटक के आरम्भ और अंत में अपनाया है। प्रस्तुत नाटक की भाषा तत्सम है। लेकिन तत्सम शब्दावली के प्रयोग में कहीं भी आरोपित सायास शब्द-शोधन की प्रवृत्ति देखने को नहीं मिलती। भाषा में एक प्रवाह है—एक गरिमा है जो अथ से इति तक संपूर्ण नाटक-पर्यन्त बराबर बनी रहती है। शैली की दृष्टि से राग-भाव एवं मधुरा-वृत्ति सम्पन्न गौड़ीय-परयोजना की प्रवृत्ति अधिक देखने को मिलती है। वस्तुतः यह नाटक एक रम्यात्मक इतिहास है जिसमें कला, रोमांस और संघर्षपूर्ण वीरोचित अभिजात्य बलिदान एवं दर्प पूरी तरह देखने को मिलता है। इस दृष्टि से इसकी भाषा एवं शैली अभिजात भाषा-शैली के शास्त्रसम्मत गुण-बोध से पूरी तरह युक्त हो जाती है।

(७) उद्देश्य एवं रस—अभिव्यक्ति को वाणी के विवेचनों ने एक तल-स्पर्शिनी सोद्देश्यपूर्ण क्रिया माना है। साहित्य के क्षेत्र में उद्देश्य चरम तत्व के रूप में प्रतिष्ठित है। अनुभवसिद्ध आलोचना परम्परा में यह प्रमाणित हो चुका है कि उद्देश्यहीन साहित्यिक अभिव्यक्ति संभव ही नहीं है। नाटक तो लोक-धर्मी विधा है अतः नैतिक आधार, विचार और सामाजिक विधा होने के कारण उद्देश्य की भंगिमाएं नाटक में तो और भी गहरी हो जाती हैं। नाटक के विषय में यह मान लिया गया है कि नाटककार का लक्ष्य लोकप्रसादन

करना है। प्रेक्षकों को आनन्द (रस) प्रदान करते हुए मात्र मनोरंजन की निचली भाव-भूमि से उठाकर इन्द्रियातित विलक्षण रसदशा तक ले जाना है। मनोरंजन, आह्लाद और आनन्द की ये समस्त लक्ष्यवाहिनी विचारणाएं "रस" तत्व के अन्तर्गत आ जाती हैं। उद्देश्य "रस" से भिन्न कुछ अलग चीज है। वस्तुतः उद्देश्य का सम्बन्ध उस लोकविहित वैचारिक क्रिया के उपस्थापन से है, समाज के प्रेक्षक के उस वैचारिक/नैतिक संस्कार से है जो अखंड काल जगत में मानव-मात्र की अविराम सत्ता के नैतिक सौन्दर्य को बराबर बनाए रखता है और युगधर्म के अनुरूप उसमें आवश्यक परिवर्तनों की वांछा को अन्तर्मुक्त करता हुआ उसे सत्य एवं शिवत्व से जोड़ता रहता है। इसीलिए नाटक का उद्देश्य सदैव मात्र रस प्रदान करना ही न रहकर लोकवृत्ति का युगानुरूप संस्कार एवं शिवत्वपूर्ण सर्वधर्मसमभावयुत सत्य की पुनर्स्थापना भी हो जाता है। यह तो हुई सामान्य बात। अब कथा-वैभिन्न्य, काल-खंड समाज वर्ग/विचार और व्यक्ति भेद से हर नाटक के लक्षित उद्देश्य भी अलग-अलग हो जाएंगे। इस दृष्टि से अगर देखें तो 'कोणार्क' का उद्देश्य मध्यकालीन भारत के कलापूर्ण इतिहास के गौरव की पुनर्स्थापन के साथ-साथ उस सामन्ती दृष्टि को लोक भाव एवं जन कल्याण भाव को भी उभारना है, जो राजधर्म एवं प्रजा कर्म के बीच एक नैतिक सामंजस्य स्थापित करती है। यूं तो लेखक ने प्रस्तुत नाटक की रचना के उद्देश्य को लेकर अपने अलग-अलग वक्तव्य दिए हैं, भूमिका में भी थोड़ा-बहुत संकेत दे दिया है। पर नाटक को पढ़ने के बाद एक बात साफ हो जाती है कि किसी भी प्रकार की जोर-जबरदस्ती, राजसी-यातना, आधिकारिक अन्याय कलावतों एवं सामान्य प्रजावर्ग को झुका नहीं सकता, तोड़ भले ही दे। मानव की निरन्तर गतिशील रहने वाली प्राणयात्रा कभी भी अन्याय, अत्याचार, शोषण, हिंसा, विध्वंस, नाश, असत्य-स्थापन एवं अविवेकपूर्ण साम्राज्यवादी परत्वहरण की क्रियाओं से वांछित नहीं होती—यद्यपि वह चुटियाती अवश्य है—पर उसका इतिहास बराबर करवटें बदलता हुआ बढ़ता जाता है। कलेच्छ तंत्र एवं उत्पीड़क कभी भी मानव के इतिहास पर पूरी तरह हावी नहीं हो सकता। न ही मानव की जीवन कला के सत्य को पूरी तरह आज तक मिटा पाया है। यही भारतीय दृष्टि है—"यही सत्यमेव

जयते" है। यही बौद्धों का रचनात्मक कल्याणकारी अहिंसक लोकभाव है—जो सदैव इतिहास में बना रहा है। नाटककार ने विशु के विध्वंस में रचना की निरंतरता के इसी सौन्दर्य को उदघाटित किया है। कोणार्क का ध्वंस वस्तुतः कोणार्क का नाश नहीं हैं अपितु उसकी अमरता का प्रमाण है। अन्तिम स्थिति पर प्रथम स्वर का यह गानोच्छवास 'कोणार्क' के उद्देश्य को प्रतिपादित करता है—

"रागिनी भग्न, किन्तु उद्दाम
अरे, यह तो है विजयी धाम
कि जिसमें जागृत आठों याम
कला की जोत अटल विश्वास

जगाए खंडहर सोता है।
दूर वह खंडहर सोता है (पृष्ठ १०)

कोणार्क का विवश-विध्वंस कला के प्रति मानवीय मूल्यों की अस्मिता के प्रति लेखक के अतुलनीय विश्वास को प्रतीकित करता है। कला व्यक्ति के इतिहास को मूल्य प्रदान करती है। मूल्यमयी जन विकास सृष्टि का इतिहास है, मूल्यहीन स्थिति सृष्टि की संकल्पना में सत्य और यथार्थ है ही नहीं—वह तो मात्र शून्य है—निखद नकार है—जब मात्र रौरव नरक की खामोशी के सिवा शायद कुछ नहीं होता, इसीलिए कलाओं का विकास मनुष्य के धरती पर पदार्पण और उसके निकास के साथ जुड़ा हुआ है। 'कोणार्क' के सूर्यमंदिर में इसी इतिहास की संकल्पना है। विशु ने इसी विश्वास को प्रतिस्थापित किया है। धर्मपद का आत्मबलिदान इसी लोक संवर्द्धक नैतिक मूल्य की रक्षा के लिए हुआ है। इस भांति लोकासिद्ध सर्वकल्याणभावमयी कलात्मक मानवीय-मूल्य-संवलित विश्वास-भावना के इतिहास की पुनर्स्थापना ही 'कोणार्क' के लेखक का उद्देश्य है।

जहाँ तक 'कोणार्क' की रसनीयता का प्रश्न है, निःसंदेह यह एक अत्यन्त समृद्ध रम्यात्मक नाटक है। अथ से इति तक प्रमाता को बांधे रखता है। औटते हुए दूध की तरह प्रमाता की चेतना ये बद्धमूल रस का सूत्र उत्तरोत्तर उबाल की ओर, उठान की ओर उदात्त आनन्दानुभूति के अनिर्वचनीय रसास्वाद की ओर उठता ही चला जाता है।

Kanehan.

हमारे प्रमुख आलोचनात्मक प्रकाशन

देव और उनकी काव्य साधना	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	१२.००
कबीर की काव्य साधना	प्रो० केदारनाथ कलाधर	१२.००
सूरदास	प्रो० भारतभूषण 'सरोज'	१२.००
तुलसीदास	प्रो० ओमप्रकाश 'तरुण'	१२.००
जायसी का काव्यदर्शन	डॉ० देशराजसिंह भाटी	१२.००
जयशंकर प्रसाद	डॉ० देशराजसिंह भाटी	१२.००
प्रेमचन्द : एक विवेचन	डॉ० सुरेश सिनहा	१२.००
भाषा-विज्ञान	डॉ० गणेशदत्त गौड़	१८.००
पाश्चात्य काव्यशास्त्र मीमांसा	प्रो० कृष्णमोहन अग्रवाल	१२.००
भारतीय काव्यशास्त्र मीमांसा	प्रो० सतीशकुमार	१५.००
साहित्यालोचन	डॉ० राजेन्द्र शर्मा	१८.००
साकेत-सौरभ (नवम सर्ग)	डॉ० नगीनचन्द सहगल	१०.००
गुप्तजी और उनकी यशोधरा	प्रो० कृष्णमोहन अग्रवाल	२०.००
पंत और उनका रश्मिबन्ध	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२०.००
पंत और उनका तारापथ	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२०.००
कामायनी की टीका	प्रो० मंजू अग्रवाल	२५.००
महादेवी और उनकी सन्धिनी	प्रो० भारतभूषण 'सरोज'	१५.००
दिनकर और उनकी उर्वशी	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२५.००
दिनकर और उनकी रश्मिरथी	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	१२.००
आचार्य केशव और केशव सुधा	प्रो० विजयकुमार अग्रवाल	२०.००
प्रसाद और उनकी लहर	प्रो० पुरुषोत्तमलाल बिज	१५.००
प्रसाद और उनका आंसू	प्रो० पुरुषोत्तमलाल बिज	१२.००
निराला और उनका राग-विराग	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२०.००
निराला और उनका तुलसीदास	प्रो० देवदत्त कौशिक	१०.००
रत्नाकर और उनका उद्धवशतक	डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी	२०.००
नरेश मेहता और उनका महाप्रस्थान	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	१५.००
चाँद का मुंह टेढ़ा है	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	१५.००
अनुपम साहित्यिक निबन्ध	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	३०.००
हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ	डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी	१५.००

रीगल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली-६